

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 33 • अंक 128 • अप्रैल-जून, 2005

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)

જાઇનશ્વ ભારતી

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-128

APRIL—JUNE, 2005

Patron

Sudhamahi Regunathan

Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur

Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta

Dr R.P. Poddar, Pune

Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur

Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun

Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun

Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun

Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

में और वह

में चाहता हूँ कि जो मैं देखता हूँ, वह दूसरे भी देखें
और जो मैं नहीं देख सकता, वह भी देखें।

में अपनी अच्छाइयों को अच्छी तरह देख लेता हूँ।
अपनी दुर्बलताओं को भी पैनी दृष्टि से देखता हूँ।
फिर भी बहुत सम्भव है - मुझमें जो विशेषताएं विकास
पा सकती हैं, उन्हें मैं न जानता हों। जो कमजोरियां
तर्क की ओट में छिपी पड़ी हैं, उन्हें न समझता हों।

में खुली पुस्तक की भांति स्पष्ट रहना चाहता हूँ।
जिस दिन अपनी अच्छाइयों की अभिव्यक्ति का साहस
और बुराइयों को न छिपाने का मनोभाव मुझमें प्रकट
हो जाएगा, उस दिन जो मैं देखूंगा, वही दूसरे देखेंगे।
फिर मेरे और दूसरों के दर्शन में कोई भेद नहीं होगा।

— अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
तमस्काय और ब्लेक होल	डॉ. महावीर राज गेलड़ा	1
अर्थ और अर्थ-छाया	जतनलाल रामपुरिया	8
जैन ध्वनि सिद्धान्त पदार्थ विज्ञान	डॉ. कुसुम पटोरिया	12
कर्म सिद्धान्त और आरोग्य-विज्ञान	समणी मल्लिप्रज्ञा	18
मध्यलोक- एक युक्तिमूलक निष्पादन	डॉ. वीरेन्द्र नाहर	29
चौदह गुण स्थान : एक विमर्श	मुनि मदन कुमार	40
सकारात्मक सुख की ओर	समणी सत्यप्रज्ञा	48
जैन-धर्म का मनोवैज्ञानिक पक्ष	डॉ. शान्ता जैन	55

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page No.
Ācārānga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	67
The Historical Beginnings...	Prabodhchandra Bagchi	83
Jaina Priests at the Court of Akbar	Mohanlal Dalchand Desai	96
Dignity of man in Jainism	Dr B. R. Dugar	113

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-128

APRIL—JUNE, 2005

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

तमस्काय और ब्लेक होल

डॉ. महावीर राज गेलड़ा

आकाश में रात्रि के समय आकाश गंगा को हमने कई बार निहारा है। आकाश-गंगा तारों का झुरमुट है। अनेक तारे समूह में होने से इनकी चमक-दमक साधारण व्यक्ति को आकर्षित करती हैं। ये तारे गति करते हैं, स्थिर नहीं हैं। इनकी गति बहुत धीमी प्रतीत होती है, क्योंकि ये बहुत दूर हैं। दूरी के कारण इनका आकार भी छोटा प्रतीत होता है। यद्यपि कई तारे सूर्य के आकार से बहुत बड़े हैं। इस आकाश गंगा के सघन प्रकाश के बीच गहरे गढ़े हो सकते हैं, ऐसा अनुमान संभव नहीं था।

जर्मनी में म्यूनिख के निकट मैक्स-प्लांक इन्स्टीट्यूट, गारचिंग में अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि आकाश गंगा के मध्य सघन धूल के बादल है। अमेरिका के वैज्ञानिक जॉन व्हीलर ने 1969 में इन गढ़ों को ब्लेक होल का नाम दिया। यद्यपि ब्लेक होल का वैज्ञानिक इतिहास दो सौ वर्ष पुराना रहा है। पिछले 30-40 वर्षों में ब्लेक होल के संबंध में जो जानकारी मिली है वह नई है लेकिन अधूरी है।

तमस्काय क्या है?

जैन आगम भगवती सूत्र में तमस्काय और कृष्णराजि का वर्णन आया है। इसके अनुसार हमारी पृथ्वी के समान ही आकाश में सुदूर छोर पर कृष्ण वर्ण के पृथ्वी के शिलाखण्ड हैं जिन्हें कृष्ण-राजि कहा है। इनकी गहरी काली छाया चारों ओर विस्तृत होती है। इन शिलाखण्डों की काली धूल से पृथ्वी के एक विशेष समुद्र का सूक्ष्म जल शिखा के रूप में आकर्षित होता है। यह जल शिखा भयंकर रूप से काली प्रतीत होती है। इस जल-शिखा को तमस्काय कहा है। ठाणं आगम में निम्न प्रकार का उल्लेख है-

“अरुणवरद्वीप जम्बूद्वीप से अंख्यातवां द्वीप है। उसकी बाहरी वेदिका के अन्त में अरुणवर संमुद्र में 42 हजार योजन जाने पर एक प्रदेश (तुल्य अवगाहन) वाली श्रेणी है और वह 1721 योजन ऊँची जाने के पश्चात् वलय रूप में विस्तृत

होती है। यह सौधर्म आदि चारों देवलोकों को घेरकर पांचवें देवलोक के रिष्ट नामक प्रस्तर तक चली गई है। यह जलीय पदार्थ है।

उसके पुद्गल अंधकारमय है, इसलिए इसे तमस्काय कहा जाता है। लोक में इसके समान कोई दूसरा अंधकार नहीं है। देवों का प्रकाश भी इस क्षेत्र में हत-प्रभ हो जाता है। इसमें वायु प्रवेश नहीं पा सकती।" तमस्काय इस ब्रह्माण्ड की असीमांकित परिधि पर चारों ओर वक्र्रीय रूप से अवस्थित है, यह संभव है कि शिलाखण्डों की काली आभा, सूक्ष्म जल के कणों से परावर्तित होती हुई, बिखरती हुई कालेपन को घना कर देती है।

कृष्ण-राजि क्या है?

जैन साहित्य में काले शिलाखण्डों (कृष्ण-राजि) के विशेष आकार तथा नाम भी बताए हैं। आकाश में ये शिलाखण्ड दो त्रिकोणी, दो षट्कोणी तथा चार चतुष्कोणी हैं। इसके बीच आठ अवकाशान्तर है। पहलवानों के कुशती के लिए जिस प्रकार समचतुष्कोण अखाड़ों का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार ये आठ शिलाखण्ड परस्पर में जुड़े हुए हैं, जिससे आठ ऐसी भूल-भूलैया वाली पंक्तियों को बनाते हैं जिसमें फंस जाने पर निकलना कठिन होता है।

जैनों ने तारों को उर्ध्व लोक के प्राणिओं (देवताओं) का वाहन माना है जिसमें देवता गति करते हैं। जब ये विमान तमस्काय के पास से गुजरते हैं तो तमस्काय के अपार आकर्षण के कारण तमस्काय में फंस जाते हैं। उसमें से बाहर निकलना अत्यन्त कठिन बताया है। इस स्थिति की तुलना कारावास से की गई है कि तमस्काय एक कारावास का स्थान है जहाँ उसके भंवर में आने से तारे ध्वस्त भी हो जाते हैं।

ब्लेक होल क्या है?

अब से कुछ वर्षों पूर्व ब्रह्माण्ड को तारों, उनके ग्रहों एवं उपग्रहों का समूह रूप माना जाता रहा। मगर वैज्ञानिकों ने आश्चर्यजनक खोज कर यह पता लगाया कि ब्रह्माण्ड में अत्यधिक घने एवं विशाल गुरुत्वाकर्षण वाले ऐसे असंख्य पिण्ड भी विद्यमान हैं जिनके आर्कषण में प्रकाश भी समाहित हो जाता है। इन अन्धकूपों को ब्लेक-होल कहा गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार जब कोई विशाल तारा अपने जीवन चक्र के अंतिम पड़ाव पर होता है, तब उसकी बाहरी वायु निष्क्रिय होकर केन्द्र की तरफ समाहित होती जाती है। विनष्ट होते हुए तारे का आयतन घटता है और इस घटते हुए आयतन के कारण घनत्व बढ़ जाता है और उसी के साथ उसका गुरुत्वाकर्षण भी बढ़ जाता है। अन्तिम चरण में यह गुरुत्वाकर्षण इतना सघन हो जाता है कि तारे का समस्त बाहरी पदार्थ एक भयानक विस्फोट और चकाचौंध प्रकाश के साथ ब्लेक-होल में परिवर्तित हो जाता है। इस ब्लेक होल को मृत तारों का स्थान कहा जाता है जहाँ का आकाश वक्र्रीय (Curved) हो जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने तमस्काय और ब्लेक होल (कृष्ण-विवर) पर भगवती भाष्य में विस्तृत टिप्पणी दी है। विज्ञान के नवीनतम अनुसन्धानों को भी अपने अध्ययन का विषय बना कर तथा जैन दर्शन से तुलना कर उन्होंने विज्ञान और दर्शन दोनों को निकट लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। तमस्काय और कृष्ण-राजि की समानताएँ और विषमताएँ बताते हुए इनकी ब्लेक होल (कृष्ण-विवर) से तुलना की है।

तमस्काय और कृष्णराजि की तुलना

तमस्काय और कृष्णराजि में कुछ समानता भी है और कुछ विषमता भी है।

समानताएँ

1. दोनों में वर्ण काला, कृष्ण अवभास वाला, गम्भीर, रोमाञ्च उत्पन्न करने वाला, भयंकर, उत्त्रासक और परम कृष्ण है।
इसका तात्पर्य हुआ कि ये दोनों ऐसे पुद्गल-स्कन्धों से निर्मित हैं, जिसमें से प्रकाश की एक भी किरण बाहर नहीं जा सकती। इस तथ्य की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि उन पुद्गलों का घनत्व इतना अधिक है कि उसमें से प्रकाश-अणु जैसे सूक्ष्म पुद्गल भी बाहर नहीं आ सकते। इस माने में विज्ञान के 'कृष्ण विवर' के साथ इनकी समानता है।
2. परिमाण की समानता-विष्कम्भ की अपेक्षा से तमस्काय दो प्रकार का होता है संख्यात हजार योजन वाला तथा असंख्यात हजार योजन वाला। कृष्णराजि केवल संख्यात हजार योजन वाली होती है।
3. परिधि की अपेक्षा से दोनों असंख्यात हजार योजन वाले होते हैं।
4. आयाम की अपेक्षा से कृष्ण राजि असंख्य हजार योजन वाली होती है। तमस्काय का आयाम निर्दिष्ट नहीं है।
5. वहाँ गृह आदि का अभाव-तमस्काय और कृष्णराजि दोनों रिक्त स्थान हैं- वहाँ न घर हैं, न दुकानें, न सन्निवेश।

विषमताएँ

1. तमस्काय और कृष्णराजि में मुख्य अन्तर यह है कि तमस्काय मुख्य रूप में अप्कायिक (जल) है, जबकि कृष्णराजि मुख्यतः पृथ्वीकायिक (पृथ्वी) है।
2. तमस्काय में बादर पृथ्वीकाय और बाहर अग्निकाय नहीं है, कृष्णराजि में बादर अप्काय, बादर अग्निकाय एवं बादर वनस्पतिकाय नहीं हैं।

3. तमस्काय और कृष्णराजि दोनों में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र एवं तारा-रूप का पूर्ण अभाव है, किन्तु जहाँ तमस्काय के परिपार्श्व में चन्द्रमा आदि पांचों होते हैं तथा पार्श्ववर्ती चन्द्र, सूर्य की प्रभा तमस्काय में आकर धुंधली बन जाती है, वहाँ कृष्णराजि में चन्द्रमा, सूर्य की आभा का सर्वथा अभाव है।
4. दोनों में बड़े मेघ संस्वित्र होते हैं, समूर्च्छित होते हैं और बरसते हैं तथा वह (संस्वेदन, समूर्च्छन, वर्षण) देव, नाग और असुर भी करते हैं, पर तमस्काय में जहाँ स्थूल गर्जन और विद्युत् और नाग तीनों करते हैं, वहाँ कृष्णराजि में केवल कोई देव करता है, असुर और नाग नहीं करते।

विज्ञान में कृष्ण विवर (Black Hole)

आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रकाश के अणुओं (जिन्हें फोटोन कहा जाता है) पर भी गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव होता है, अतः प्रकाश की गति भी इससे प्रभावित होती है। सामान्य स्थिति में ताराओं से प्रकाश निकलता रहता है और चारों ओर फैलता है किन्तु कुछ तारे ऐसे होते हैं जिनमें द्रव्यमान या संहति (Mass) अत्यन्त अधिक मात्रा में तथा सघन रूप में होती है। उनका प्रकाश उनके गुरुत्वाकर्षण के कारण उनसे बाहर निकल कर फैल नहीं सकता। उनकी सतह से जो भी प्रकाश बाहर फैलने की कोशिश करता है, तो उसे भी थोड़ी दूर पहुँचने पर ही तारे के भीतर का गुरुत्वाकर्षण पुनः खींच लेता है। इसकी वजह से वह तारा 'कृष्ण' वर्ण वाला दिखाई देता है। विज्ञान ने ऐसे तारे को 'कृष्ण विवर' (ब्लैक होल) की संज्ञा दी है। जब प्रकाश जैसे अति सूक्ष्म अणुओं को भी कृष्ण छिद्र अपने चंगुल से निकलने नहीं देता, तब यह स्पष्ट है कि यदि कोई भी अन्य भौतिक पदार्थ या आकाशीय पिण्ड उसके निकट आएगा तो वह अपनी ओर उसे खींच लेगा और अपने में आत्मसात कर लेगा।

कृष्ण विवर की उत्पत्ति

वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार जब किसी भी तारे के भीतर ईंधन समाप्त हो जाता है, तब उस तारे का तापमान क्रमशः घटता जाता है और उसके परिमाण का संकुचन के साथ-साथ तारे का घनत्व बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते वह इतना अधिक हो जाता है कि उसकी सतह से किसी भी पदार्थ का मुक्त होना कठिन हो जाता है। अन्ततोगत्वा उसका घनत्व इतना अधिक हो जाता है कि प्रकाश के अणु जैसा सूक्ष्म पदार्थ भी फिर उससे बाहर भाग नहीं सकता। जो भी पदार्थ उसके गुरुत्व-क्षेत्र की सीमा में आ जाता है, उसे भी वह अपनी ओर खींच लेता है।

कृष्ण विवर सही अर्थ में पूर्णरूपेण कृष्ण होने से किसी भी साधन के द्वारा दिखाई नहीं दे सकता। फिर भी गुरुत्वाकर्षण बल का अनुभव किया जा सकता है। आकाश में विद्यमान

तारे आदि प्रकाशित पिण्डों से घिरा हुआ यह पिण्ड एक प्रकार का गड्डा (विवर) है, जिसमें गिरने वाला पदार्थ वापिस बाहर नहीं निकल सकता। इस रूप में 'कृष्ण विवर' की संज्ञा बिल्कुल सार्थक है।

वैज्ञानिक धारणा के अनुसार ऐसे कृष्ण विवरों की संख्या अनेक हैं। संभवतः इनमें से एक कृष्ण विवर का अस्तित्व हमारी आकाश-गंगा (गेलेक्सी) के भीतर है, जिसे 'सिग्नसएक्स-1' की संज्ञा दी गई है।

कृष्ण विवर के साथ तुलना

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि लोक में नए कृष्ण विवर की उत्पत्ति होती रहती है पर तमस्काय, कृष्णराजि के वर्णन से लगता है कि ये एक रूप में शाश्वत पदार्थ हैं, इनकी नई उत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि कृष्णराजि और कृष्ण विवर में समानताएं हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ तमस्काय और कृष्णराजि- ये दोनों ही रोमाञ्च उत्पन्न करने वाली, भयंकर, उत्त्रासक और क्षुब्ध करने वाली हैं जिससे कि देव आदि आकाशगामी जीव उनसे दूर रहने की कोशिश करते हैं, वहाँ कृष्ण विवर के विषय में वैज्ञानिकों की भी यही धारणा है कि कोई भी आकाशीय पिण्ड या प्रकाश-पिण्ड उसके पास से गुजर नहीं सकता। यदि गुजरता है तो उस गड्ढे में गिर जाता है, उसमें विलीन हो जाता है।

कृष्णराजि का आकार त्रिकोण, चतुष्कोण अथवा षट्कोण हैं। वहाँ तमस्काय का आकार प्रारम्भ में एक प्रदेश-श्रेणी-रूप रेखात्मक है और ऊपर उठ कर वह मुर्गे के पिंजरे की भांति आकार वाला अर्थात् चतुरस्रात्मक हो जाता है। वृत्ति के अनुसार प्रदत्त स्थापना से यह अनुमान लगाया जा सकता है।

वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार स्थिर होने के पश्चात् कृष्ण विवर का आकार पूर्ण वृत्त होता है।

इस विवरण के अतिरिक्त विज्ञान जगत में माना गया है कि यह संभावित है कि जो पदार्थ ब्लैक होल में चला जाता है, वह इस ब्रह्माण्ड में कहीं बाहर निकलता है। ये ब्लैक होल कितने व्यास और लम्बाई के हैं, आकाश में इनका छोर कहाँ है, यह ज्ञात नहीं है किन्तु जहाँ भी पदार्थ ब्लैक होल से बाहर निकलता है वह व्हाइट होल होगा। इस प्रकार जिस छोर से पदार्थ आकर्षित होगा वह उसके लिए ब्लैक होल का काम करेगा। इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड में पदार्थ का आवागमन संभव है। भौतिक शास्त्री हाँकिंग तथा पेनरोज ने साठ के दशक में यह माना था कि ब्लैक होल किसी दूसरे अंतरिक्ष का द्वार हो सकता है। दो ब्रह्माण्डों को मिलाने वाली गुफा को वार्म होल कहा है। अगर ब्लैक होल घूमने लगे तो यह स्थान एक

अंतरिक्ष से दूसरे अंतरिक्ष में जाने के लिए मार्गस्थल का काम करेगा लेकिन इस यात्रा में लाखों वर्ष लगने की संभावना रहेगी। ब्लेक होल की यह आवश्यक किन्तु अधूरी जानकारी है।

वर्तमान में इजरायली खगोलविदों का मानना है कि प्रत्येक ब्लेक होल में एक अनन्त घनत्व वाला विलक्षण बिन्दु होता है। इस बिन्दु पर पहुंचते ही पदार्थ का सर्वनाश हो जाता है। ब्रू विश्वविद्यालय के भौतिक शास्त्री पिरान ने सिद्ध किया है कि ब्लेक होल से सुरक्षित निकल पाने का कोई रास्ता नहीं है। जो भी वस्तु ब्लेक होल में गुजरने के लिए प्रवेश करेगी वह खुद ही रुकावट का बिन्दु बन जायेगी। अतः ब्लेक होल किसी अन्य ग्रह में जाने का रास्ता नहीं हो सकता। जैन दृष्टि पिरान के मत के निकट है, क्योंकि उर्ध्व लोक में तमस्काय का एक छोर लोक की परिधि के समीप है जहां से आगे अलोक की सीमाएं प्रारम्भ हो जाती हैं। वहां पदार्थ का सर्वथा अभाव है। अलोक में पदार्थ-शून्य आकाश है। ब्लेक होल और तमस्काय का सम्पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन यहाँ अपेक्षित नहीं हैं। केवल कुछ बिन्दुओं की मीमांसा की गई है। कास्मोलॉजी में आधुनिकतम होने वाली खोजों पर निरन्तर दृष्टि रखते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने उपर्युक्त विषय पर उल्लेख किया है कि 'बरमूदा त्रिकोण' (त्रिनिडाड समुद्र तट) के रहस्यमय क्षेत्र में यात्रा करने वालों ने जो जानकारी दी है वह तमस्काय का आभास देने वाली घटना है। घटना 8 अगस्त 1956 की है, जिसका विवरण निम्न प्रकार है- कोष्टगार्ड का एक खोजी और तार बिछाने वाला जहाज 'यामाक्रा' सरगासो समुद्र क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था। सरगासो समुद्र क्षेत्र, बरमूदा त्रिकोण के बाह्यमास क्षेत्र के उत्तर में समुद्री घास, जालों से भरा जल क्षेत्र माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि इस जल क्षेत्र के नीचे 'गल्फ स्ट्रीम' तथा अन्य प्रवाही धाराएं सक्रिय हैं। जहाजों, नौकाओं आदि के लिए यह क्षेत्र वर्जित और बेहद जोखिम भरा माना जाता है। कहा तो यहां तक जाता है कि बरमूदा त्रिकोण में रहस्यमय ढंग से गायब अथवा नष्ट होने वाले जलयानों, नौकाओं आदि की समाधि इसी जल-क्षेत्र में लगी है। तो यामाक्रा खुले समुद्र में आगे बढ़ रहा था कि अचानक राडार संचालक ने पाया कि जहाज के ठीक सामने अट्टाइस तीस मील दूर तक एक बहुत बड़ा मिट्टी का ढेर-सा खड़ा है। उसने अपने अफसर को इसकी सूचना दी। अफसर ने उस ढेर और अपने दिशासूचक यन्त्रों को देखा तो उसे भी लगा कि कुछ गड़बड़ है। जहाज के कैप्टन को भी इस सम्बन्ध में सूचित किया गया, पर उसने जहाज की दिशा नहीं बदली और जहाज आगे बढ़ता गया। कुछ ही घण्टों में जहाज उस मिट्टी के ढेर के बहुत करीब पहुंच गया। पर अब मिट्टी का आभास तो होता था, लेकिन ढेर जैसी ऊँचाई नहीं थी। रोचक और दिलचस्प बात यह थी कि जहाज के शक्तिशाली राडार और सर्वलाइटें यहां बेअसर साबित हो रहे थे। सच तो यह था कि मिट्टी या जमीन भी नहीं थी लेकिन यह पानी की ऐसी विचित्र सतह थी जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व की ओर ऊँचे उठते हुए जमीन के टुकड़ों या मिट्टी के ढेर जैसे मालूम दे रही

थी। सूनी, ठण्डी मौत की जीती-जागती अनुभूति थी वह। लेकिन 'यामाक्रा' के कप्तान और चालक दल ने विलक्षण साहस का परिचय देते हुए जहाज को आगे बढ़ाना जारी रखा। प्रवंचना भरे इस जल-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जहाज की तमाम बत्तियां गुल हो गईं। ऐसा घना, ठोस अंधेरा कि बेहद तेज जलने वाली कार्बन आर्क बत्तियां भी एक बुझती चिनगारी से ज्यादा चमकदार नहीं रह गई थीं। चालक-दल के सदस्यों में खांसी का ऐसा दौर चला कि रोके नहीं रुका। जहाज के इंजन में 'स्टीम-प्रेसर' खत्म होने लगा। हारकर कैप्टन को जहाज मोड़ने और लौट चलने का आदेश देना पड़ा। अनुमान से सब काम किया गया लेकिन कई घण्टे जीवन-मृत्यु से जूझते इस जहाज के लोगों को जब सुबह की रोशनी मिली तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही कि दूर दराज तक उस प्रवंचना का कोई नामो-निशान नहीं था।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकाश और अंधेरे को समझने का प्रयास मानव इतिहास में लगातार हुआ है। एक वैज्ञानिक ने पूछा-दीपक में प्रकाश कहाँ से आया? विद्यार्थी फूंक मार कर दीप बुझा दिया और पूछा प्रकाश कहाँ गया? यह प्रश्न आज भी जीवित है।

कवि की ये पंक्तियाँ कितनी सटीक है :-

तुम दीया जलाओं, अंधेरा बाहर निकल जायेगा।

लेकिन अंधेरे को बाहर करने से दीया नहीं जलता ॥

जैनों ने प्रकाश और अंधेरे के कर्णों को स्वतंत्र पदार्थ माना है। अंधेरा, प्रकाश का अभाव नहीं है। यह स्वतंत्र पुद्गल पदार्थ है।

ईसाई परम्परा में कहा है- जगत की रचना में ईश्वर ने पृथ्वी पहले ही दिन बनाई मगर पानी की सतह और गहराई में अंधेरा व्याप्त था। ईश्वर ने फिर प्रकाश को उत्पन्न किया जिससे दिन और रात प्रारम्भ हुए। अंधेरे और प्रकाश की कहानी अनादि काल से चली आ रही है।

5, छ-20, जवाहर नगर
जयपुर (राजस्थान)

अर्थ और अर्थ-छाया

जतनलाल रामपुरिया

The only thing you take with you when you are gone
is what you leave behind- — John Allston.

प्रकृति और उसकी यह दृश्यमान सृष्टि बड़ी विचित्र है। एक विचित्रता इसकी यह भी है कि इसमें जो विचित्र है, वह एक साथ सामने नहीं आता। एक मन्दगामी धारावाहिक की तरह सब बहुत धीरे-धीरे स्पष्ट होता है और जितना स्पष्ट होता है उससे अधिक सदा ओझल बना रहता है। प्रत्यक्षतः प्रकृति का रंगमंच आकाश की तरह खुला है। न कहीं परदा है, न कहीं नेपथ्य। जो घटता है, वह सामने ही घटता है- बनना भी, मिटना भी। कहीं कोई आवरण नहीं। फिर भी एक अवृत्त वृत्त की तरह सारा कुछ अबूझ और अगम्य है, न ओर का पता चलता है, न छोर का। जो अनावृत्त है, खुला है उसका भी इतनी निर्ममता से अपारदर्शी होना विचित्र ही तो है।

प्रकृति की विचित्रताओं में आदमी भी एक है। उसकी इन्द्रियाँ दृश्यमान हैं, पर उनका संचालक मन है और वह अदृश्य है। आदमी की देह की तरह उसका मन भी अगर प्रत्यक्ष होता तो इस धरती का स्वरूप कुछ और होता। तब आदमी समझता कि जो उसके सामने है और जो उसके पीछे है, वह उस सबकी तुलना में बहुत क्षुद्र और नगण्य है जो उसके भीतर है। पर वैसा नहीं हुआ। आदमी अपने भीतर के विराट् का अंकन नहीं कर सका। विवशता की इस व्यथा को लॉर्ड बायरन ने इन शब्दों में बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति दी है-

Between two worlds life hovers like a star
‘Twist night and morn, upon the horizon’s verge
How little do we know that which we are
How less what we may be.

आदमी स्वयं को बहुत कम जानता है। वह किन ऊँचाइयों को छू सकता है, इस बात को तो वह और भी कम समझता है। क्यों? कारणों की खोज में कहीं दूर न जाएं। थोड़ा-सा भीतर की ओर ही झाँके। ज्ञेय और अज्ञेय, निवृत्ति और प्रवृत्ति, अक्षर और क्षर के बीच चयन की मनोव्यथा से पीड़ित, एक अभिशप्त की तरह आदमी अपनी ही चेतना के विरोधाभासों से द्वन्द्वग्रस्त रहा है। अपने ही द्वारा सर्जित इन कृत्रिम और आरोपित विरोधी युगलों का बंधन आदमी का कारागार है। मगर विडम्बना कुछ ऐसी कि मन को इस कारागार से ही मोह हो चला है। अब मुक्ति मिले तो कैसे?

इस द्वन्द्वग्रस्त और छिपे मन ने बीज और माटी, सीप और मोती, ओसकण और कलियाँ, रंग और इन्द्रधनुष, चन्द्रमा और ज्वार के सामंजस्यपूर्ण संसार में स्वार्थ का एक और संसार बसा दिया है। यह उपेक्षा और अपेक्षा, आशंका और संतोष, आग्रह और आक्रोश, आतंक और द्रव्य एवं अन्याय और उत्पीड़न का संसार है। यह हिंसा का संसार है। इसे समुद्र ने रचा है और अब वही इससे त्राण पाने के लिए विकल है, पर त्राण कैसे मिले जब मन ही मानवीय संवेदनाओं के प्रति उन्मन और उदासीन है। सारे समीकरण और समाधान मन से जुड़े हैं, मगर मन लक्ष्य से भटका हुआ है। ऐसे दिशाभ्रमित को अपनी इयत्ता, अपनी अस्मिता, अपने अर्हम की मंजिल कहां मिले? आदमी का होना, आदमी के आदमी न होने से भिन्न ही नहीं रहा तो उसका संसार भी हिंसा के संसार से भिन्न कैसे हो?

मन! यह सबके पास है, पर कुछ विशिष्ट लोग ही इसे इन्द्रियों और उनकी इच्छाओं के नियन्त्रण से मुक्त रख सके। जो रख सके, उन्हें महापुरुषों की संज्ञा मिली। वेदों की ऋचाओं, गीता के श्लोकों और नीति-सूत्रों में बहती इन आर्ष पुरुषों की वाणी की अनुगूँज कभी मन्द नहीं हुई। परवर्ती चिन्तक, विचारक उसे युग के अनुरूप व्याख्यायित भी करते रहे, पर उनके प्रति उन्मन मन उन्मन ही बना रहा। ऋषि-मनीषी पुरुषों के गहन चिन्तन से निःसृत उन जीवन-सूत्रों का अर्थ ग्रहण करने के लिए सब अपने मन को तैयार नहीं कर सके। जो कर सके, उन्होंने स्वयं को ऊँचा उठाया। एक कदम और आगे बढ़े। स्व के साथ समुदाय को भी लिया और आदमी को उसकी अपरिमित क्षमता और उसके गन्तव्य का बोध कराने के लिए जीवन-मूल्यों की परिभाषा को उसके विविध और व्यापक रूपों में पुनः-पुनः उसके सामने रखा।

काल परिवर्तन का हेतु है। मगर वह जड़ पदार्थों को जितना प्रभावित करता है, संभवतः उतना चेतन जगत को नहीं, क्योंकि उसमें प्रतिवाद करने की वृत्ति और क्षमता है। कदाचित् इसी कारण, इतने सब प्रयासों के उपरांत भी मनुष्य का मन जहाँ था, वहीं रहा। आज भी वहीं है। मगर कुछ लोग भिन्न होते हैं, जो मन को भी बदल जाने के लिए विवश करते हैं। ऐसे ही लोगों में से दो व्यक्तियों के साथ अभी हम थोड़ा-सा समय बिताएंगे। पहले S. Grellet के साथ बैठते हैं। उन्होंने इस कथन पर गौर किया—Life is a bubble and

we are paying a heavy price to keep it floating और सोचा कि जब एक बुलबुले को तैरते रखने की इतनी बड़ी कीमत हम चुका रहे हैं तो उसका कुछ उद्देश्य भी तो होना चाहिए। इस चिन्तन के साथ उन्होंने सृष्टि के क्षणभंगुर स्वरूप को और भी तीव्रता से परखा। फिर अपने जीवन के लक्ष्य को कुछ इस तरह निर्धारित किया-

I expect to pass through this world but once. Any good thing, therefore, that I can do, or any kindness that I can show to any fellow creature, let me to it now for I shall not pass this way again.

विलय का अन्तिम क्षण एक दर्शन का उपसंहार है और दूसरे दर्शन का उद्घाटन। इस दर्शन की अनुभूति अन्तिम क्षण में नहीं, एस. ग्रेलेट की तरह उसकी प्रतीति जो अपने जीवन के मध्याह्न में ही कर लेते हैं, वे अपने उन्मन मन को जीवन के शाश्वत मूल्यों के साथ आत्मसात् होने के लिए उन्मुख करते हैं और इस प्रक्रिया से दूसरों के लिए एक नया दीप जलाते हैं। ग्रेलेट ने जो दीप जलाया, आप ध्यान दें, उसका प्रकाश तो सौ दीयों की रोशनी के बराबर है, मगर हम इतना-सा समझ सकें कि जीवन काल में अनादि और अनन्त दो छोरों के बीच, क्षण भर के लिए चमकने वाली विद्युत् रेखा है-Just a brief crack of light between two eternities of darkness.

अल्बर्ट आइंस्टीन भी प्रकाश फैलाने वाले ऐसे ही व्यक्तियों में थे।..... How little do we know that which we are, how less what we may be - स्वयं को न पहचानने वाली यह बात आइंस्टीन के साथ नहीं थी। वे मनुष्य-जीवन का अर्थ जानते थे। अपने विचारों और कार्यों से उन्होंने उसे नए अर्थ दिए, नई ऊँचाइयाँ दी। जिस सूत्र के आलम्बन से वे शिखर पर पहुँचे, उसे हम भी अपने चिन्तन के शिखर पर रखें। मनन योग्य उनके इन उद्गारों को केवल पढ़ें नहीं, अपने मन में उन्हें ऊँचा आसन दें-

A hundred times everyday I remind myself that my inner and outer life depended on the labours of other men, living and dead, and that I must exist myself in order to give in the same measure as I have received and still receiving.

क्या अर्थ हैं इसके? एक तो, जिसे समझ पाना कठिन नहीं, यह है ही कि हम अपने उन्मन मन को विदा करें, उससे स्वयं को विलग करें। इसके साथ ही उसका यह अर्थ भी हम समझ रहे हैं कि जीवन केवल गति है और उसकी पूर्णता अनवरत रूप से चलते रहना है- In exerting oneself for others too! दूसरे ही क्षण हमें भान होगा कि मनुष्य का जीवन केवल दायित्वों का निर्वहन है जहाँ केवल कर्तव्य ही कर्तव्य है, अधिकार कुछ नहीं।

यह गान एक स्वर्णिम उषा के उदय का गान होगा और तब हम सृजन और शांति के सच्चे अभ्युदय को देख सकेंगे। यही गान और यही अभ्युदय आइंस्टीन के उद्गारों का अर्थ है और केवल आइंस्टीन ही क्यों? John Allston, Lord Byron और S. Grellet भी तो इसी अर्थ की परिक्रमा कर रहे हैं, उनके केवल नाम भिन्न हैं, शब्द भिन्न हैं।

अर्थ का जितना महत्त्व है, अर्थच्छाया का भी उतना ही महत्त्व है। संलग्न अर्थ सर्वत्र निहित हैं और हर कथ्य के समानान्तर चलते हैं। उनका सिलसिला मूल अर्थ को और भी प्रकाशमान करता है। अतः अर्थ की बात जहाँ होती हो वहाँ पल भर के लिए रुक जाना निरर्थक नहीं जाता। यह छोटा-सा विश्राम नए अर्थ उद्घाटित करता है। यहाँ भी यह उद्घाटन, देखिए, हमें फिर प्रकृति के पास ले जा रहा है, जहाँ से हमने अपनी बात प्रारम्भ की थी। प्रकृति का हर उपादान कुछ अर्थ लिए है और उसकी सारी चर्याएं उन मूल्यों को परिभाषित करती हैं, जो शाश्वत हैं। मगर मनुष्य के मन की तरह प्रकृति में व्यक्त अर्थ भी अदृश्य रहते हैं। इन दोनों अदृश्य तत्वों का समन्वय चयन की यातना और द्वन्द्वों के कारागार से मुक्ति है। इन दोनों का समन्वय ज्ञेय, निवृत्ति और अक्षर का वरण है। इन दोनों का समन्वय दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए प्रस्थान है।

मन और प्रकृति- इन दोनों के समन्वय में सब अर्थ समाहित हैं।

15 नूरमल लोहिया लेन
कोलकता 700 007

जैन ध्वनि सिद्धान्त पदार्थ विज्ञान

डॉ. कुसुम पटोरिया

जैन वाङ्मय में ध्वनि का विस्तार से विवेचन है। भगवती, प्रज्ञापना आदि आगमों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद अकलंक, हरिभद्र, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण आदि सूरियों के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

सारे दृश्य जगत का विस्तार पुद्गल द्रव्य से है। पुद्गल जैनों का विशिष्ट व अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। पुद् का अर्थ है संयोग तथा गल का अर्थ है विभाग अर्थात् फ्यूजन और फिरान। पुद्गल चयाचय को प्राप्त होने वाला भौतिक द्रव्य है। संयोग और विभाग भौतिक द्रव्य की ही विलक्षण विशेषता है, अतः पदार्थ का पुद्गल नाम विशेष सार्थक है।

शब्द पुद्गल की शब्द, बंध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तमः, छाया, आतप व उद्योत आदि पर्यायों में से एक है।¹ पुद्गल की तेईस वर्गणाओं में एक भाषावर्गणा है।² वर्गणा का अर्थ तरंग और उनका कम्पन है। भाषावर्गणा के सूक्ष्म स्कन्ध में ही ध्वनि-रूप में परिवर्तित होने की योग्यता होती है। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार शब्द सूक्ष्म-बादर भेद में अन्तर्गत होते हैं, क्योंकि ये चक्षुग्राह्य नहीं हैं।

पदार्थ में कम्पन से ध्वनि उत्पन्न होती है। स्कन्धों के संघर्षण व टूटने से ध्वनि उत्पन्न होती है। एक परमाणु ध्वनि उत्पन्न नहीं करता।³ यह उत्पन्न ध्वनि माध्यम में तरंगित होती है। बोलने की इच्छा होते ही मन, वचन व काय सक्रिय हो जाते हैं। सक्रिय होने पर वक्ता का स्वरयंत्र भाषावर्गणा के परमाणुओं को अर्थात् ध्वनि रूप में परिवर्तित होने योग्य पुद्गलों को छओं दिशाओं से ग्रहण करता है। ये ध्वनि रूप परिवर्तित होने योग्य पुद्गल-पर्याय द्रव्यभाषा है। व्यक्ति गृहीत पुद्गलों को ध्वनि रूप में उत्सर्जित करता है। ध्वनिरूप में निःसृत पुद्गल सूक्ष्म स्कन्ध अपने समीपस्थ स्कन्धों को शब्दायमान करते हैं। इस प्रकार क्रमशः उत्पन्न होती

हुई ये ध्वनितरंगों भाषावर्गणा के पुद्गलों के माध्यम से नीचीतरंगन्यास से लोकान्त तक पहुंचती है।^१ यह ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी है। इसीलिए समीप की ध्वनि शीघ्र सुनाई देती है। शब्द की गति, परमाणुओं की सूक्ष्मता, बोलने वाले के प्रयास व माध्यमकों के सम्बन्ध पर निर्भर होती है।

शब्द पुद्गल की पर्याय है और रूप, रस, गन्ध व वर्ण पुद्गल की ही असाधारण विशेषता है। ये सभी विशेषताएं सूक्ष्म रूप में शब्दों में भी होती हैं। शब्द की अनेक विशेषताओं संघर्षण, प्रतिघात, नष्ट होने का स्वभाव, मन्दता, तीव्रता, मृदुता, परुषता, प्रबलता, संख्यात्मकता, गति, गतिध्वनि आदि का वर्णन मिलता है।

जैन दार्शनिकों ने इसकी पौद्गलिकता की सिद्धि अनेक तर्कों से की है। यह भौतिक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। दीवार से टकराता है। कांच आदि के प्रतिबन्धक कारणों से रुकता है। तीव्र आवाज से बधिर होने का खतरा रहता है। आज भौतिकी और आधुनिक उपकरणों ने शब्दों की पौद्गलिकता को सर्वजनसामान्य के लिए ग्राह्य बना दिया है।

अन्य भारतीय दर्शनों ने भी शब्द का विचार किया है। वहां शब्द द्रव्य है या गुण, यह विवाद का विषय रहा है। सांख्य के अनुसार त्रिगुणात्मक अहंकार से शब्द की उत्पत्ति होती है।^१ शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। इस प्रकार सांख्यों के मत में शब्द द्रव्य है। सांख्यों ने दो ही तत्त्व माने हैं— प्रकृति और सुख। शब्द प्रकृति का विकार है। जैनों के अनुसार द्रव्य छह हैं। अचेतन द्रव्य पांच प्रकार का है। मूलतः अचेतन दो प्रकार का है— एक मूर्त या भौतिक, दूसरा अमूर्त या अभौतिक। आकार धर्म, अधर्म (और काल भी) के समान अचेतन किन्तु अमूर्त व निष्क्रिय है, जो स्वतंत्र द्रव्य है। सांख्यों का आकार शब्दतन्मात्रा (सूक्ष्म ऊर्जा) से उत्पन्न है। इसलिए जन्यपदार्थ या विकार या धातु है। दोनों के आकाश के स्वरूप में अन्तर है।

वैयाकरणों ने शब्द को वायु का परिणाम माना है। वाक्यपदार्थ के अनुसार वक्ता की इच्छा के अनुसार प्रयत्न होता है, जिससे वायु क्रियाशील होकर उच्चारण-स्थानों से टकराकर शब्दरूप को प्राप्त करती है।^१ भर्तृहरि ने जैनाचार्यों का नाम लिए बिना उनका मत भी उपस्थित किया है।^१ स्पष्ट है वायु शब्द का माध्यम है, कारण नहीं।

न्याय वैशेषिक शब्द को द्रव्य या द्रव्य की पर्याय न मानकर गुण मानते हैं। उनके मत से शब्द आकाश का गुण है।^१ रूपादि गुण चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, उसी प्रकाश श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से शब्द भी गुण है। यद्यपि नैयायिकों में पार्थसारथिमिश्र ने कहा कि यदि शब्द को गुण ही मानना हो, तो वह वायु का गुण हो सकता है, आकाश का नहीं। सत्यपि गुणत्वे वायुगुणत्वात्।^१ इतर नैयायिकों के मत से स्पर्शत्व न होने से यह वायु का गुण नहीं हो सकता, आकाश का गुण होना ही उचित है।^{१०}

मीमांसकों में प्रभाकर न्यायवैशेषिकों की तरह शब्द को आकाश का गुण मानते हैं।¹¹ दूसरी ओर कुमारिल भट्ट “जैन कपिलनिर्दिष्ट शब्दश्रोत्रादि समर्पण साधीय”¹² अर्थात् जैनों के मत को वैशेषिकों को मान्य मत की तुलना में वरीयता देते हैं।

यदि शब्द आकाश का गुण होता तो आकाश में सदैव सुनाई देता। दूसरे यदि आकाश निष्क्रिय व अमूर्त है, तो शब्द को भी निष्क्रिय व अमूर्त होना चाहिए या फिर आकाश भी उसी तरह मूर्त होता।

ध्वनितरंगें प्रसरणशील हैं। विज्ञान के अनुसार ध्वनितरंगें आकाश में जहाँ माध्यम न हो, प्रसार नहीं कर सकतीं। जहाँ वातावरण नहीं है, वहाँ ध्वनितरंग नहीं है। यदि यह आकाश का गुण हो, तो इसे आकाश में प्रत्येक स्थान पर रहना चाहिए। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार ध्वनि लोकान्त तक पहुँचती है, क्योंकि वहाँ तक निष्क्रिय और उदासीन धर्म द्रव्य माध्यम के रूप में उपस्थित है।

ध्वनि को भौतिकी में मेकनो-काइनेटिक ऊर्जा का एक रूप माना गया है। पदार्थ व ऊर्जा में परस्पर रूपान्तरण की योग्यता मानी गई है। जैन दृष्टि से पुद्गल के मुख्य दो भेद हैं- बादर (स्थूल) व सूक्ष्म। सूक्ष्म पुद्गल की तुलना ऊर्जा से की जा सकती है। प्रत्येक पुद्गल परमाणु में रूप, रस, गन्ध व स्पर्श रहता है। नैयायिकों ने शब्द में स्पर्श नहीं माना है। वहाँ आकाश में केवल शब्दगुण, वायु में स्पर्श, अग्नि में स्पर्श व रूप जल में रूप, रस, स्पर्श तथा पृथ्वी में चारों गुण माने हैं। जैन दर्शन के अनुसार सभी पुद्गल चार गुणों से युक्त होते हैं। यहाँ तक कि द्रव्यमन भी पौद्गालिक है। उल्लेखनीय है कि भौतिकी में भी पदार्थ की ये चार विशेषताएँ स्वीकार की गई हैं।¹³

इनमें स्पर्श पुद्गल का महत्त्वपूर्ण गुण है, क्योंकि स्पर्श इन्द्रिय का स्थान प्रथम है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं- मृदु-कठोर, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध व रुक्ष।¹⁴ भौतिकी के अनुसार भी काठिन्य (मृदु-कठिन), घनत्व (गुरु-लघु), तापमान (शीत-उष्ण) व कणात्मक संरचना (स्निग्ध- व रुक्ष) पदार्थ की विशेषताएँ हैं।¹⁵

परमाणु में दो स्पर्श होते हैं- शीत-उष्ण में से एक और स्निग्ध-रुक्ष में से एक। एक चतुःस्पर्शी व दूसरा अष्टस्पर्शी। शीत, उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष मुख्य स्पर्श हैं, शेष चार गौण स्पर्श हैं। चतुःस्पर्शी पुद्गल-स्कन्ध भाररहित अलघुगुरु होते हैं। अष्टस्पर्शी पुद्गल में प्रकाश की तरंगें, अन्धकार, ऊष्मा, विद्युत्, उद्योग, प्रभा, प्रतिबिम्ब, छाया आदि आते हैं। चतुःस्पर्शी सूक्ष्म पुद्गल में श्वासतरंगें, ध्वनितरंगें, मन व कर्मपरमाणु आते हैं। अष्टस्पर्शी व चतुःस्पर्शी पुद्गल का परस्पर रूपान्तरण होता रहता है। विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र व गुरुत्वाकर्षण की शक्तियाँ पुद्गल के ही सूक्ष्म रूप हैं। सूक्ष्मतम पुद्गल भारतीय हो जाते हैं। सूक्ष्मतम पुद्गल

तरंगरूप में प्रवाहित होता है। सम्पूर्ण लोकाकाश इन सूक्ष्म पुद्गलों से सघन रूप में भरा हुआ है। यह स्थूल पुद्गलों की गति या क्रिया में बाधा नहीं करता है।¹⁶

जैन दर्शन के अनुसार एक परमाणु एक आकाश-प्रदेश को घेरता है और असंख्य परमाणु भी एक साथ एक आकाशप्रदेश में रह सकते हैं। विज्ञान ने पुद्गल के इस अद्वितीय गुणधर्म को स्वीकार किया है। उनके अनुसार तारे का एक क्यूबिक इंच खण्ड 620 टन के लगभग होता है।¹⁷ एक क्यूबिक इंच वायु में असंख्य मॉलीक्यूलस (सूक्ष्म स्कंध) रहते हैं। हेन्स वर्गस के अनुसार मन्दप्रकाश में भी अब्ज प्रकाशाणु होते हैं।¹⁸

डॉ. नन्दलाल जैन के अनुसार सामान्य भौतिक तत्त्व (पदार्थ) ऊर्जा में स्पष्ट भेद है। ऊर्जा भाररहित, रूपरहित व अभौतिक है।¹⁹ इसके विपरीत डॉ. झवेरी कहते हैं कि पदार्थ व ऊर्जा एक ही द्रव्य के दो विभिन्न रूपान्तरण हैं। पदार्थ ऊर्जा की स्थिर अवस्था है, ऊर्जा भौतिक तत्त्व की सक्रिय प्रवहमान अवस्था है।²⁰

आधुनिक वैज्ञानिक भौतिक तत्त्व और ऊर्जा का परस्पर रूपान्तरण स्वीकार करते हैं। जैन पर्याय, परिणाम, क्रिया को पुद्गल के धर्म मानते हैं। क्रिया का अर्थ किसी भी प्रकार की ऊर्जा का रूपान्तरण (उत्पत्ति) है। क्रियावान् का अर्थ ऊर्जा उत्पन्न करने में समर्थ तत्त्व है। वस्तुतः ऊर्जा ऊर्जावान के बिना, गुण गुणी के बिना, धर्म धर्मी के बिना कैसे रह सकता है? पदार्थ से निष्पन्न ऊर्जा भी अभौतिक कैसे हो सकती है? जैन दार्शनिकों ने अनेक तर्कों द्वारा इसे भौतिक सिद्ध किया है। ऊर्जा भी पुद्गल की पर्याय होने से कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न है, सर्वथा भिन्न या अभौतिक नहीं। पदार्थ को ही ऊर्जा में रूपान्तरित किया जाता है।

डॉ. नन्दलाल जैन के अनुसार आईन्स्टीन के दिनों में यह मानना संभव था कि पदार्थ और ऊर्जा मूलतः एक है, परन्तु सामान्य पदार्थ और ऊर्जा में स्पष्ट भेद है। ये इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, केवल अपने कार्यों से जाने जाते हैं। ऊर्जा का भार इतना नगण्य होता है कि इसे भारतीय कहा जाता है। इसीलिए यह आकाशहीन व अभौतिक है।

जैनों ने भार को पुद्गल का मूलभूत धर्म नहीं माना है। इसे आगन्तुक धर्म माना गया है। भार सूक्ष्म पुद्गलों के संघात से उत्पन्न होता है। डॉ. नन्दलाल जैन का यह कथन भी विचारणीय है कि 'सामान्य व्यक्ति के लिए वैशेषिक मत को ग्रहण करना सरल है, क्योंकि वे ऊर्जा कणों के सूक्ष्म-आयामों को समझने में असमर्थ है।'²¹ कठिन होने से विज्ञान अपने निष्कर्षों को गलत रूप में प्रस्तुत नहीं करता। सामान्य व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न ऊर्जा अभौतिक कैसे होगी? शब्द में भी स्पर्श गुण है। भार भी संकेन्द्रित ऊर्जा है। वस्तुतः भारहीन का अर्थ सर्वथा भारहीन नहीं है। श्री झवेरी के अनुसार मासलेस जीरो टेस्ट मास की गणितीय भाषा का अंग्रेजी अनुवाद है।

निष्कर्षतः, शब्द की दार्शनिक प्रस्थापना में जैनाचार्यों ने भले ही बाद में प्रवेश किया हो, किन्तु इतर दार्शनिक प्रस्थापनाओं के पूर्व ही जैनागमों में उसके पौद्गालिक स्वरूप व तरंगरूपता की स्थापना द्वारा उसे एक वैज्ञानिक आधार दिया है। इतर दर्शनों में शब्द द्रव्य है या गुण यह विवाद का विषय रहा है, परन्तु जैन दृष्टि शब्द पुद्गल की पर्याय होने से द्रव्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. तत्त्वार्थसूत्र 5/24
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड गा. 594-595 धवला पुस्तक 14, 6, 97 पृ. 117
3. पञ्चास्तिकाय गा. 79
4. भासालोगंतपञ्जवसिया पण्णत्ता, प्रज्ञापनासूत्र भाषापद, 15
जब भाषा वायु जल आदि माध्यमों में तरंगित होती है, तो लोकान्त में जहाँ वातावरण नहीं है, वहाँ यह कैसे पहुंचती है।
5. अहंकारादशब्दतन्मात्रम्- प्रवचनभाष्य 1/62
6. लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥ वाक्यपदीय 1/108
7. वही, 1/110
8. तत्राकाशस्य गुणः शब्दसंख्या, प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 23
9. न्यायरत्न पृ. 738
10. न्यायभाष्य, पृ. 100
11. प्रकरणपञ्जिका, शालिकनाथ मिश्र, पृ. 424 आकाशगुणः शब्दः।
12. वियद्गुणत्वं शब्दस्य केचित् ऊचुर्मनीषिणः प्रत्यक्षाद्विरोधः, तद्भट्टपादैरूपेक्षितं, तत्र गुणस्य सर्वत्र साश्रयताप्रतीयमानत्वाद् इह च निराश्रयतायैव प्रतीतिदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः
शब्दो द्रव्यं सत्त्वे सत्यनाश्रयत्वामत् कालवत्। मानमेयोदयः नारायणभट्टः त्रिवेन्द्रम् 1912 पृ. 91
13. General chemistry, Pauling, P. 12-3
14. भगवती-सूत्र 2/10 पत्रवणा सूत्र 2/36
15. Microcosmology- 159
16. Massless pudgala - Dr. G.R. Gelra, तुलसीप्रज्ञा जन.-मार्च, 75
17. Cosmology old and new. Dr. G.R. Jain, P. 17
18. Ibid
19. It might theretically be logical to prosume energy as Gasically material in the Iinstainion days, Put there is a clear difference Between comman

naterial and energy. It is normally inperceplitte and interred by ib effeab. The weight energy is so ह्यद्वानव इतिहास में लगातार हुआ है। एक वैज्ञानिक ने पूछा-दीपक में प्रकाश कहाँ से आया? विद्यार्थी फूक मार कर दीप बुझा दिया और पूछा प्रकाश कहाँ गया? यह प्रश्न आज भी जीवित है।

कवि की ये पंक्तियाँ कितनी सटीक है :-

तुम दीया जलाओं, अंधेरा बाहर निकल जायेगा।

लेकिन अंधेरे को बाहर करने से दीया नहीं जलता ॥

जैनों ने प्रकाश और अंधेरे के कणों को स्वतंत्र पदार्थ माना है। अंधेरा, प्रकाश का अभाव नहीं है। यह स्वतंत्र पुद्गल पदार्थ है।

ईसाई परम्परा में कहा है- जगत की रुसघु.

A marsters portide is an awk work transtation from mathe maties to Gngwsh. Physiarb know esactly what they mean try a marsbers parlide. A masslors parlide is a name they give to an element in mathenatices slmeline, What that element scpresent in the seal world, however is not eary to descnte and in de protahities does not mean that the particle is complitely devoid of mars.

कर्म सिद्धान्त और आरोग्य-विज्ञान

— समणी मल्लिप्रज्ञा

आरोग्य सुख शान्ति की राह है।^{1a} उसे समग्रता से समझने के लिए जैनों के कर्म सिद्धान्त और आरोग्यविज्ञान के संबंध को जानना आवश्यक है।

जैन दर्शन का सिद्धान्त अध्यात्म की भूमिका पर आरूढ़ होकर अनेक समस्याओं का समाधान देता है। आरोग्य विज्ञान आयुर्वेद का दूसरा नाम है।^{1b} अथर्ववेद के मंत्र देवों के लिए भेषजप्रतिपादन है², जिनसे आरोग्य प्राप्ति होती है। इसलिए अथर्ववेद को आयुर्वेद का उद्गम स्थल माना जाता है।³ आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है।

कर्म सिद्धान्त को सम्यग् रूप से समझकर व्यक्ति पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करने के लिए तथा नवीन कर्मों के आगमन को रोकने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।⁴ आयुर्वेद शास्त्र के भी दो उद्देश्य बतलाए गए हैं— रोग से पीड़ित व्यक्तियों को रोग से मुक्त करना और दूसरा स्वस्थ पुरुषों की रक्षा करना।⁵

आयुर्वेद के कुछ आचार्यों ने कर्म के स्तर पर भी विश्लेषण किया है। उन्होंने माना है—रोगों के जनक पुण्य-पाप भी हैं। जैन दर्शन सम्मत चौदह पूर्व ग्रन्थों में कर्मप्रवाह नामक पूर्व है। उनमें कर्म और उसके परिणामों का विस्तार से वर्णन प्राप्त है। आज वह महाग्रन्थ प्राप्त नहीं है किन्तु कर्म विषयक जो सूत्र उपलब्ध हैं उनका गम्भीर अध्ययन करने पर रोग, आरोग्य और कर्म का सम्बन्ध सूत्र बुद्धिगम्य हो जाता है। उसके अध्ययन से नए-नए आयाम उद्घाटित होते हैं।

आज अपेक्षा है रोग और आरोग्य दोनों घटकों के सही ज्ञान के लिए कर्म-सिद्धान्त और आरोग्य विज्ञान का संयुक्त अध्ययन हो। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार कर्म-सिद्धान्त की गूढ़ पहेलियों को सुलझाने तथा उसकी व्यापक उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए आधुनिक आरोग्य विज्ञान के शोधकार्यों को भी जानना जरूरी है। दूसरी ओर आरोग्य विज्ञान के सामने कुछ चुनौतियां, कुछ अहेतुक

बीमारियां तथा स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं का अनेकान्त दृष्टि से समाधान के लिए कर्म सिद्धान्त को गहराई से समझना अपेक्षित है। इसलिए वर्तमानिक परिप्रेक्ष्य में दोनों शास्त्रों का एक-दूसरे के पूरक के रूप में किया जाने वाला अध्ययन हमारे स्वास्थ्य से संबद्ध प्रश्नों का सही और स्थायी समाधान देने में ज्यादा सफल हो सकता है।

आरोग्य के मुख्य घटक हैं—रोग, रोग निदान, रोग मुक्ति और उपाय। कर्म सिद्धान्त में भी इन चारों तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। कर्म के आठ प्रकार हैं। उनमें से तीन प्रकार—मोहनीय कर्म, वेदनीय कर्म और नाम कर्म का प्रत्यक्ष और परोक्ष संबंध हमारे स्वास्थ्य से है।

कर्म का रोग पर प्रभाव

कर्म के आठ प्रकारों में से तीन कर्मों का सीधा सम्बन्ध बीमारियों के साथ प्रतीत होता है। कर्म विज्ञान के अनुसार असात वेदनीय कर्म मानसिक, शारीरिक दुःख, व्याधि, जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों का हेतु बनता है।^१ मोहनीय कर्म मनोकायिक, चैतसिक, कायिक भावात्मक आधि और उपाधि का कारणभूत है।^१ शुभ और अशुभ नाम कर्म शरीर और मन की सुखद और दुःखद अनुभूति का माध्यम बनता है।^१

कर्म सिद्धान्त की इस अवधारणा को हम आयुर्वेद के सन्दर्भ में देखें तो वहां चरकऋषि द्वारा वर्णित “प्रज्ञापराध” का वर्णन प्राप्त होता है।

चरक सूत्र में चरक ऋषि ने “प्रज्ञापराध” कर्म के सन्दर्भ में लिखा है^२—

इन्द्रियोत्क्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्।

ईर्ष्या-मान-भय-क्रोध-मोह मदभ्रमाः ॥

तज्जं वा कर्म यतक्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च।

यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।

प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥

बुद्धिकृत अपराध को ही शिष्टजन प्रज्ञापराध कहते हैं जो रोग उत्पन्न करते हैं। विद्वानों या बुद्धिजीवियों का उत्तेजित होना तथा उत्तेजना को बलपूर्वक रोकना, निरन्तर साहस के कार्यों में संलग्न रहना और अतिशय स्त्री प्रसंग करना, निर्धारित कार्यकाल का उल्लंघन करना, कार्यों का मिथ्याभिमान, विनय और आचार का लोप, पूज्य व्यक्तियों का अपमान, अहितकर विषयों का सेवन, असमय आदेश का प्रसारण, क्लेश-कारक कर्म करने वालों के साथ मैत्री, इन्द्रियों को संयत रखने वाले सदाचार का त्याग, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मनोभ्रान्ति अथवा इन सबसे सम्बद्ध क्लेशकारक कर्म या दैहिक कर्म या फिर इस प्रकार के अन्य कर्म जो मोह से उत्पन्न हो, ये सब कर्म प्रज्ञापराध कहलाते हैं।

कर्मों का शरीर पर प्रभाव

कर्म का विपाक किसी माध्यम के द्वारा होता है। शरीर और मन के सुखद तथा दुःखद संवेदन भी कर्म विपाक का माध्यम बनते हैं। कर्मों की अभिव्यक्ति का मुख्य स्थान ही शरीर और मन है।¹⁰ शारीरिक रोग अर्थात् व्याधि को परिभाषित करते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया है—“तद् दुःखसंयोगी व्याधय उच्यन्ते।” अथर्ववेद में यह स्पष्ट प्राप्त होता है कि क्रोध, चिन्ता, भय आदि मानसिक विकारों से शरीर में 40 प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं।¹² विष अर्थात् शरीर के लिए अनुपयोगी, घातक विजातीय पदार्थ। इन विजातीय पदार्थों का मुकाबला करने के लिए रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता का होना आवश्यक है। कर्मशास्त्रीय भाषा में असात वेदनीय कर्म का उदय होता है तब वह कर्म शरीर की अशुद्ध ऊर्जा भावतन्त्र को अशुद्ध बना देती है। इससे इम्यूनिटी सिस्टम की रोगप्रतिरोधक क्षमता कमजोर हो जाती है तथा शरीर भी रोगों को ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है।

रोगों का कर्म पर प्रभाव

जिस प्रकार कर्म शरीर और मन को प्रभावित कर रोगोत्पत्ति में हेतु बनता है उसी प्रकार रोग भी कर्मों के उदय तथा बन्ध को प्रभावित कर देते हैं। प्रज्ञापना सूत्र की टीका में¹³ आचार्य मलय गिरि ने प्रसंगवश उल्लेख किया है कि पित्त कुपित हो तो क्रोधकषाय का उदय होता है। क्रोधकषाय मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। पित्त का कोप कलहकारी वृत्ति को जन्म देता है। वात का असन्तुलन वायुविकार जनित उदासी, कुण्ठा आदि की स्थिति पैदा करता है।

इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य भी उल्लेखनीय है। शरीर की ऊर्जा यदि ठीक है तो सात वेदनीय का संवेदन होगा। यदि शरीर की ऊर्जा अस्त व्यस्त है तो असात वेदनीय का संवेदन होगा, दुःख का संवेदन होगा। तैजस शरीर से स्थूल शरीर को ऊर्जा की शक्ति प्राप्त होती है। मन की भी यही स्थिति है। मन भी ऊर्जा से संचालित है। हमारी जैविक ऊर्जा ठीक काम कर रही है, तैजसशरीर की ऊर्जा समचीन है तो मन प्रसन्न रहेगा, आनन्दित होगा, यदि ऊर्जा समचीन नहीं है तो मन अशान्त हो जाएगा, दुःखी बन जाएगा, बुरे विचार आने लगेंगे।¹⁴ आचार्य महाप्रज्ञ ने आधुनिक व्याख्या के साथ रोगों का कर्म पर पड़ने वाले प्रभावों को समझाया है। स्पष्ट है कि कर्म का विपाक तथा बन्ध एकांगी नहीं होता। इनके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निमित्त बनते हैं। रोग भी बन सकते हैं। व्यक्ति नाक भौं सिकोड़ता है, इससे घृणा करता है। घृणा से मोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय, वेदनीय कर्म का भी बंध होगा। ईर्ष्या करेगा तो मोहनीय कर्म का ज्यादा बंध होगा। रोग और कर्म का संबंध आचारशास्त्र से जुड़ा है। हमारा आचार, व्यवहार रोग में निमित्त तथा कर्म उपादन कारक बनते हैं। एक श्रृंखला बनती है— रोग, असात वेदनीय कर्म का बंध तथा असात वेदनीय कर्म के विपाक की स्थितियाँ।¹⁵

रोग के हेतु

दर्शन जगत में एक कार्य का एक ही कारण माना गया। जैसे आम की गुठली से आम का पेड़ होगा परन्तु रोग उत्पत्ति में ऐसा नहीं होता। एक ही बीमारी के कई कारण हो सकते हैं, अतः आयुर्वेद एवं कर्म सिद्धान्त रोग के कई कारणों की चर्चा करते हैं।

वात- पित्त-कफ-इन तीनों दोषों का कुपित होना या किसी एक का कुपित होना आयुर्वेद में दोष वैषम्य रोगः कहा गया। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भी रोगोत्पत्ति में सहायक होते हैं।¹⁶

द्रव्य- किसी व्यक्ति को गैस हो गई और वह यदि पापड़ खा ले तो गैस की पीड़ा बढ़ जाएगी।

क्षेत्र- नेपाल, भूटान या दार्जिलिंग में जाएंगे तो जल्दी सर्दी लग जाएगी।

काल- गर्मी के दिनों में ही लू लगती है, सर्दी में नहीं

भाव- तनाव बढ़ा या कुण्ठा हुई कि अनिद्रा, पाचनतंत्र की गड़बड़ होना स्वाभाविक है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने कहा- द्रव्य, क्षेत्र आदि प्रधान कारण हैं रोग के उत्पन्न करने में पर कर्म के उदय में ये निमित्त कारण भी हैं।

माता-पिता, परिस्थितियां, आन्तरिक परिवेश, रासायनिक-असंतुलन आदि भी रोग के हेतु हैं। अनावश्यक स्मृतियां करना बीमारी का बहुत बड़ा हेतु है।

बीमारी का हेतु केवल शरीर ही नहीं होता, मन भी होता है। मनोकायिक बीमारियां भीतर से आती हैं अर्थात् साइक से आती है। युंग के अनुसार चेतना के दो स्तर हैं— माइंड और साइक। बहुत सारी बीमारियां साइक से आती हैं।

रोगों का बहुत बड़ा हेतु है भय। भय बढ़ा कि हृदय, फेफड़े, गुर्दा खराब हो जाते हैं। नकारात्मक भाव शारीरिक व मानसिक रोगों का प्रमुख हेतु बनते हैं।

नंदीसूत्र की टीका में आचार्य मलयगिरि ने लिखा है -अनिष्ट पुद्गलों का ग्रहण होता है। बुरे विचारों द्वारा, बुरी कल्पना द्वारा हृदय का रोग होता है।¹⁷

आर्त्तध्यान से व्याकुलता, विक्षिप्तता बढ़ती है। वह व्याकुलता विक्षिप्तता अनेक शारीरिक, मानसिक रोगों का हेतु बनती है।¹⁸ भगवान महावीर ने रोगों की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाए हैं—¹⁹

1. अच्चासणयाए- अधिक मात्रा में भोजन करने से हमारी प्राणशक्ति अधिक खर्च होती है। रोग का कारण प्राणशक्ति का कमजोर होना।

2. अहितासणयाए- अहितकर भोजन- हित-मित और ऋत भोजन के अलावा फास्टफुड, अतिठण्डा, अतिगरम, नशीली चीजें रोग का हेतु बनती हैं।

3. अत्तिणिद्दाए- (अतिनिद्रा) अत्यधिक सोने से श्वास रेट बढ़ जाती है। कफ की मात्रा बढ़ती है।

4. अतिजागरितेणं- (अत्यधिक जागना)

5. उच्चारनिरोहेणं- (मलबाधा को रोकना)

6. पासवणणिरोहेणं- (मूत्र बाधा रोकना)

7. अद्धानगमणेणं- (पंथगमन)

8. भोयण पडिकूलताए- (प्रतिकूल भोजन)

9. इंदियत्थविकोवणयाए- (इंद्रिय विकोपन)

आयुर्वेद में भी रोग के हेतुओं का वर्णन किया गया है-

तज्जो रोगः कर्मयोगः²⁰ पुण्य और पाप भी रोग के हेतु बनते हैं। शरीर में विद्यमान अग्नि की तीक्ष्णता और मंदता रोग में निमित्त बनती है तथा अग्नि की तीव्रता और मंदता में त्रिदोष का वैषम्य हेतु बनता है। -तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मंदाश्चाग्निः समैः समः²¹

काल, अर्थ, कर्म का हीनाधिक या विषम योग रोग का तथा सम्यक् योग आरोग्य का मूल कारण है-

कालार्थकर्मणां योगो हीनाधिकातिमात्रकः।

सम्यक्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यकं कारणम्॥²²

प्राकृतिक चिकित्सा वाले बीमारी का कारण विजातीय तत्वों का उभार माना है। महावीर के अनुसार रोग का मूल हेतु है भाव जगत। रोग का एक हेतु बनता है अध्यवसाय। हम अधिकांशतः चिकित्सा के क्षेत्र में बाह्य हेतुओं पर ज्यादा ध्यान देते हैं पर बाह्य और अन्तरंग दोनों हेतु होते हैं। अन्तरंग हेतु है भाव।

रोग की प्रक्रिया

हर कार्य की एक विधि प्रक्रिया होती है। वैसे ही रोग एकाएक नहीं आते हैं। किसी भी रोग की उत्पत्ति कुछ समय पहले सूक्ष्म स्तर पर शुरू हो जाती है पर विशेष प्रक्रिया से गुजर कर शरीर तक आने में उसे कुछ समय और लग जाता है-



आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में आत्मा है, उसकी परिधि में कर्मण शरीर के द्वारा निर्मित कषाय वलय-अध्यवसाय-तैजस शरीर-लेश्या-ग्रन्थितन्त्र-यहां तक भावनात्मक क्षेत्र है। जब अध्यवसाय स्थूल शरीर में उतरते हैं तो नाड़ी तन्त्र को प्रभावित कर मानसिक विकृति पैदा करते हैं। लेश्यातन्त्र जो पूर्ण संचित कर्मों का झरना है,²³ यह अपने निर्देश मांसपेशियों, अस्थितन्त्र, मन, वाणी और शरीर इन तीनों क्रियातन्त्र को देता है। इस चक्र से तात्पर्य है कि कर्म एक विशेष प्रक्रिया से शरीर को प्रभावित कर रोग को उत्पन्न करते हैं।

रोग के प्रकार

मूलतः हेतुभेद के आधार पर ही रोगों के प्रकार निर्धारित होते हैं।

त्रिदोषवैषम्य के आधार पर पित्तज, कफज और वायुजनित रोगों के तीन प्रकार सर्वविदित है। सुश्रुत-संहिता में रोगों के चार प्रकार बताये गये हैं- आगन्तवः शारीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति।²⁴ आगन्तुक शस्त्रादि के आघात से उत्पन्न। शारीरिक रोग अन्नपान, त्रिदोष और रक्त इनसे एवं सन्निपात रूप में विषमता से उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग-क्रोध, भय, शोक हर्ष, दुःख, ईर्ष्या, असूया, दीनता, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा स्वाभाविक रोग-भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि है।

महर्षिचरक ने रोग के तीन प्रकार माने हैं- निजागन्तुमानसाः।²⁵ आचार्य महाप्रज्ञ ने सभी प्रकार के रोगों को दो भागों में बांटा है-बाह्य उपाय साध्य रोग तथा आभ्यन्तर उपाय साध्य रोग।²⁶ आधुनिक संदर्भ में रोग के मुख्य तीन प्रकार बन सकते हैं-1. शारीरिक 2. मानसिक 3. भावनात्मक रोग।

आचार्य महाप्रज्ञ प्रणीत साहित्य में इन रोगों पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है।

शारीरिक रोग- शारीरिक रोग से तात्पर्य बुखार, सर्दी, जुकाम, खांसी आदि से है। स्थूल शरीर का संचालक है- तैजस शरीर, वह विद्युत् का उत्पादन केन्द्र है। हमारा तैजस शरीर हमारे शरीर के भीतर की बैटरी है, विद्युत् है। वह कमजोर हो जाती है तो शरीर गड़बड़ा जाता है। बीमारी हो जाती है। इम्युन-सिस्टम भी कमजोर हो जाता है। तैजस शरीर के सक्रिय योग से शरीर स्वस्थ व निष्क्रियता से बीमारी होती है। तैजस शरीर को सक्रिय रखने के लिए शरीर-प्रेक्षा व चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा करवाई जाती है जिससे प्राण का संतुलन होता है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। प्राण संतुलन के लिए कायोत्सर्ग, मंशवास का प्रयोग भी करना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए थॉयराइड (कण्ठ) व एड्रीनल जो नाभि का स्थान है, दोनों का संतुलन जरूरी है। दोनों ही ग्रन्थियां महत्त्वपूर्ण हैं। आहार पर्याप्ति के द्वारा चयापचय की क्रिया होती है- जो शरीर को पूर्णतः स्वस्थ रखती है। आहार पर्याप्ति ठीक है तो स्वास्थ्य भी अच्छा है। जैविक-रोग-प्रतिरोधक-क्षमता बनी रहेगी।

सामान्य लौकिक भाषा में कहते हैं कि नाभि टल गई। यह नाभि टलने पर पेट की व्यवस्था गड़बड़ हो जाती है। जब नाभि को ठीक किया जाता है तो आदमी स्वस्थ हो जाता है। प्रश्न होता है, ऐसा क्यों होता है? असंयम के द्वारा वृत्तियों की अधिक उत्तेजना से भी ऐसा हो जाता है। नाभि से गुदा तक का स्थान अपान प्राण का स्थान बताया गया है- स्वास्थ्य का अपान के साथ गहरा रागबन्ध है। कहा भी गया- अपान शुद्धिः स्वास्थ्यम्। अनेक बीमारियों की जड़ अपान प्राण के स्थान में छिपी हुई है। जब हम नासाग्र पर ध्यान करते हैं, तो अपान प्राण व्यवस्थित होता है। यह स्वास्थ्य की महत्त्वपूर्ण कुंजी है।

मानसिक रोग-निराशा, कुण्ठा, अनुत्साह इत्यादि मानसिक रोग का प्रमुख कारण है-आर्त्तध्यान। मानसिक रोग का आन्तरिक कारण है- काम, क्रोध, भय आदि। यह तथ्य आगम, आयुर्वेद, चिकित्सा विज्ञान सब में वर्णित है। अति क्रोध मानसिक बीमारी पैदा करता है। शरीर की बीमारी भी पैदा करता है। आयुर्वेद में उल्लेख है कि काम, शोक और भय का अतिरेक होता है तो वायु विकृत हो जाती है। वह बीमारी बन जाती है। संवेग, कुण्ठा, अवसाद, स्मृतिभ्रम आदि भी वायु प्रकोप से हो जाते हैं। ध्यान का उद्देश्य शान्ति या आनन्द ही नहीं, व्यावहारिक समस्या का समाधान, संवेग नियंत्रण भी होना चाहिए।

मानसिक रोग को मिटाने का उपाय है- धर्मध्यान अर्थात् एकाग्रता। सत्य को जानने के लिए करो, यथार्थ को जानने के लिए करो। मानसिक स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण उपाय है- स्मृति, चिन्तन व कल्पना का संयम। दूसरा प्रयोग है दिमाग को खाली रखना। इसके लिए प्रयोग बताया गया - श्वास संयम। वेदना में व्याकुल मत बनो-यह मानसिक रोग से बचने का बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

भावनात्मक रोग—आवेग, संवेग, असहिष्णुता, क्रूरता आदि भाव आत्मा अथवा चेतना से जुड़े हुए हैं। हमारी भावनाएं भीतर से आती हैं। बाहर से उनका कोई संबंध नहीं रहता। भाव-जगत भीतर का जगत है। यह स्वास्थ्य के लिए कुंजी का काम करता है। मन के अच्छे अथवा बुरे कार्य के लिए उत्तरदायी है भाव। जैसा भाव वैसा मन। भाव मन को संचालित करता है। वर्तमान मेडिकल साइन्स की दृष्टि से भाव की उत्पत्ति का केन्द्र है—लिम्बिक-सिस्टम, हाइपोथेलेमस। मस्तिष्क का यह हिस्सा भाव संवेदना का स्थल है—हाइपोथेलेमस। अभिव्यक्ति का केन्द्र है नाभि। वह तैजस केन्द्र है, जहां वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं। मन भाव द्वारा संचालित एक तन्त्र है। भाव द्वारा सारी प्रवृत्तियां संचालित हो रही हैं। क्रोध, लोभ, माया, मान, ईर्ष्या, भय, घृणा, वासना, ये हमारी भावनाएं हैं। इनके संयम पर हमारा भावनात्मक स्वास्थ्य निर्भर है।

चित्त का भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध है। अन्तराय चित्त, मिथ्यात्व चित्त, मोहचित्त का सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य के साथ जुड़ता है। चित्त भाव को पैदा करता है। भाव का प्रवाह भीतर से आता है। हमारे जितने भाव हैं, ये सारे चित्त के उत्पाद हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो अशुद्ध चित्त, अशुद्ध भाव और अशुद्ध मन है तो स्वास्थ्य खराब है। ये सब शुद्ध हैं तो स्वास्थ्य अच्छा है। मनोकायिक बीमारियां चित्त की अशुद्धि के कारण उपजती हैं। भाव की शुद्धि न होने पर शरीर खोखला होता चला जाएगा।

बहुत बीमारियां जो न शरीर से, न मन से किन्तु भाव से उत्पन्न होती हैं। बड़ी बीमारियों का स्रोत है— राग व द्वेष युक्त भावनात्मक संवेग। जैसे तेज क्रोध का परिणाम होता है, तत्काल हार्ट अटैक हो जाएगा। यदि निषेधात्मक भाव रहते हैं तो कैंसर की संभावना हो जाएगी।

भाव की विकृति रोग को जन्म देती है। भय पैदा हुआ तो बीमारी पैदा हो जाएगी। उत्कंठा पैदा हुई तो बीमारी पैदा हो जाएगी। पदार्थ के प्रति उत्सुकता और अति लालसा भयंकर बीमारी पैदा करती है, जिससे थाइरॉक्सीन की क्रिया बदल जाती है। उदासी, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, अवसाद, डिप्रेशन आदि—आदि बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

चिकित्सा

भगवान महावीर के सामने परम तत्त्व था आत्मा। उसे स्वस्थ रखने के लिए उन्होंने बहुत कहा और वह अध्यात्मशास्त्र बन गया। अध्यात्मशास्त्र का दूसरा नाम है स्वास्थ्य शास्त्र।

आत्मा अरुज है। वह कभी रोग से आक्रान्त नहीं होती। जो स्वयं अरुज है उसका उपयोग रोग निवारण में संभव है।¹⁸ अध्यात्म-चिकित्सा का मूल आधार है— आत्मा के अरुज स्वभाव का चिन्तन करना और तैजस केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना।

स्वास्थ्य का बहुत महत्त्व है। उससे भी ज्यादा महत्त्व है स्वास्थ्य चेतना का। यदि स्वास्थ्य की चेतना जागृत है तो निश्चित ही आप जाने-अनजाने अध्यात्मिक हैं। अध्यात्म चिकित्सा-स्वास्थ्य-चेतना का अगला चरण है।

अस्वस्थ मनुष्य चिकित्सा कराता है- एलोपैथिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला डॉक्टर की दवा लेता है।

- आयुर्वेदिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला वैद्य की दवाई लेता है।
- होमियोपैथिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला होमियोपैथी दवा लेता है।
- यूनानी चिकित्सा में विश्वास करने वाला हकीम की दवा लेता है।

दवा लेने वाले रोगी को दवा लेने से रोका नहीं जा सकता, किन्तु दवा लेने के साथ-साथ अध्यात्म-चिकित्सा अथवा भाव-चिकित्सा का मार्ग सुझाया जा सकता है। दवा के साथ इसका प्रयोग करने से स्वास्थ्य में शीघ्र सुधार होता है और स्थायी सुधार होता है।

बाह्य रोगों की चिकित्सा बाह्य साधनों द्वारा की जा सकती है। आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा बाह्य साधनों से नहीं की जा सकती, क्योंकि इन रोगों के परमाणु इतने प्रबल होते हैं कि वे बाह्य औषधियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी चिकित्सा आभ्यन्तर उपाय साध्य है। जैसे अनाथी मुनि की वेदना उनके ही संकल्प से ठीक हुई। कर्मज बीमारी की चिकित्सा विश्वास द्वारा की जा सकती है। संकल्प और भावशुद्धि के द्वारा की जा सकती है। भावशुद्धि और मानसिक शुद्धि भी रोग निवारण में सहायक बनती है। आभ्यन्तर कारण से रोग पैदा हुआ है तो चिकित्सा ध्यान, आसन, प्राणायाम आदि से की जा सकती है। आयुर्वेद के अनुसार रसायन सबसे बड़ी औषधि है। रसायन जरा और व्याधि को नष्ट करने वाला होता है। लेकिन इस रसायन से भी आचार रूपी रसायन मुख्य रसायन है।

भावना से भी चिकित्सा की जाती है। औषध प्रयोग के साथ-साथ भावना का प्रयोग भी कार्यकारी होता है। औषधि के साथ मैत्री की भावना, अनुकंपा की भावना का प्रयोग किया जाए तो औषधि की शक्ति वृद्धिगत हो सकती है। यदि बीमारी क्रूरता के कारण उत्पन्न हुई है तो क्रूरता की वृत्ति का परिष्कार कर सबके साथ मैत्री की भावना को पुष्ट किया जाए, बीमारी नष्ट हो जाती है। यदि रोगी में मैत्री, प्रमोद, करुणा की भावना पैदा की जा सके, उसके मन की निर्मलता व प्रसन्नता को बढ़ाया जा सके, क्रोध, मान, माया, घृणा, ईर्ष्या आदि भावनाओं का परिष्कार किया जाए तो व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ हो सकता है।

शरीर शास्त्र में मस्तिष्क का गहरा अध्ययन हुआ है। उसमें अल्फा और थेटा- इन तरंगों का अध्ययन हुआ है। अल्फा से मस्तिष्क का तनाव कम होता है, इसका तात्पर्य है कि ग्रन्थियों का स्राव संतुलित होता है जिससे मनुष्य स्वस्थ होता है।

आयुर्वेद का सूत्र है- “दोषवैषम्यं रोगः दोषसाम्यं आरोग्यं”²⁸ तीनों दोष सम अवस्थाओं में रहते हैं तब स्वास्थ्य होता है। मानसिक दोषों के लिए उत्कृष्ट औषध-धी, घृति और आत्मा आदि का ज्ञान करना है।²⁹ मानसिक समता आरोग्य है। जहां समता वहां स्वास्थ्य और जहां स्वास्थ्य वहां समता। हमारी जीवन शैली उपशम प्रधान तथा संतुलन प्रधान होने से शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रोगों से बच सकती है।

जो अभय की साधना करना चाहे, आक्रामक मनोवृत्ति को छोड़ना चाहे, कामवृत्ति पर नियन्त्रण करना चाहे उसके लिए नासाग्र पर ध्यान करना चाहिए।

चिकित्सा अनेक प्रकार की होती है। उसमें एक चिकित्सा पद्धति है-प्रेक्षा-थेरापी। प्रेक्षा-चिकित्सा, जिसमें शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक रूप से व्यक्ति को स्वस्थ बनाया जाता है व असाता वेदनीय कर्म को मंद किया जा सकता है।

प्रेक्षा-चिकित्सा³⁰

कब्ज-

- आसन-पेट की दस क्रियाएं, अग्निसार, उदराकर्षण, इष्टवंदन
- प्राणायाम-दीर्घश्वास, अनुलोम-विलोम, दाहिने स्वर को खुला रखकर मूलबंध कर 100 कदम चलना।
- प्रेक्षा- तुड़डी के नीचे के भाग को हथेली से दबाएं और उस पर ध्यान करें।
- अनुप्रेक्षा- बड़ी आंत को सुझाव दें - मेरी आंत सक्रिय हो रही है।
- मंत्र-हूं का जप करें।
- तप- भोजन के बाद साढ़े तीन घंटे तक कुछ नहीं खाना। गरिष्ठ, मैदा, मावा, तले हुए पदार्थ और चाय का वर्जन।
- मुद्रा-सूर्य मुद्रा, शंख मुद्रा, नमस्कार मुद्रा।
- विशेष प्रयोग- अर्धशंख प्रक्षालन, ताड़ासन, स्कन्धासन, तिर्यग् भुजंगासन, शंखासन।
तनाव मुक्ति³¹- शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनाव शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को नष्ट करते हैं। इससे मुक्त रहना।
- आसन-ताड़ासन, नौकासन, सुप्तकायोत्सर्ग 20 मिनट। परिवर्तन मुद्रा, कण्ठ का कायोत्सर्ग।
- प्राणायाम- दीर्घश्वास, केवल रेचन, सूक्ष्म भस्त्रिका, महाप्राण ध्वनि
- प्रेक्षा- समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, सम्पूर्ण शरीर पर श्वेत रंग का ध्यान
- अनुप्रेक्षा- मैत्री और सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।
- मंत्र-ऊं ह्रीं श्रीं भगवते पार्श्वनाथाय हर हर स्वाहा।
- मुद्रा- ज्ञान मुद्रा, सुरभि मुद्रा, सूर्य मुद्रा, सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा।

संदर्भ सूची-

1. (अ) सुखसंज्ञकमारोग्यम् -चरक सूत्र, अष्टांगहृदय पृ. 2 पर उद्धृत
1. (ब) ठाणं 10, 83
2. भेषजं वै देवानामथर्वाणः भेषज्यायै वारिष्यैः -ताण्डव-ब्राह्मण 16/10/10
3. इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगायर्ववेदस्य -सुश्रुत सूत्र स्थान 1/6/2
4. महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र - पृ. 54
5. अष्टांग हृदय पृ. 2 कविराज अत्रिदेवगुप्त
6. बहुविधं मानसं वाऽति दुःखं जन्मजरामरणं ... व्याधिबधबन्धनादिजानितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम्। -तत्त्वार्थ राजवार्तिक 8/8/2
7. वही 8/9/4
8. तत्त्वार्थसूत्र 8/11
9. चरकसंहिता, शरीरस्थानम् 33
10. त एते मनः शरीराधिष्ठानाः सुश्रुतसंहिता 1/26/6
11. सुश्रुतसंहिता 1/23/6
12. अथर्ववेदीय कर्मज व्याधि निरोध पृ. 18
13. प्रज्ञापनासूत्र, मलयागिरीवृत्ति पृ. 330
14. महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र पृ. 59
15. वही, 56/57
16. जैनदर्शन और अनेकांत, पृ. 123
17. महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र पृ.72 पर उद्धृत
18. ध्यान क्यों? पृ. 21
19. ठाणं 1/13
20. चरकसंहिता, शरीरस्थानम्
21. अष्टांगहृदय, 1/8
22. वही, 1/19
23. ठाणं टीका, 9/51
24. सुश्रुतसंहिता, 1/24
25. सुश्रुतसंहिता पृ. 6 पर उद्धृत
26. महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र, पृ. 56
27. तुम स्वस्थ रह सकते हो, पृ. 3
28. अष्टांगहृदय, 1/20
29. वही, 1/26
30. तुम स्वस्थ रह सकते हो, पृ. 53
31. वही, 60/61

संपर्क सूत्र :

जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूँ

मध्यलोक- एक युक्तिमूलक निष्पादन

-डॉ. वीरेन्द्र नाहर

जैन आगम तथा शास्त्रों¹ के खगोलशास्त्र विभाग में मध्यलोक (तिर्यकलोक) की जो व्याख्या है वह आज के जनप्रेक्षित प्रेक्षकों से सहमत नहीं होती।

मध्यलोक को युक्तियुक्तपूर्वक, तर्कपूर्वक तथा हमारे दैनन्दिन प्रेक्षकों से जोड़कर इस लेख में यह समझाने का प्रयास किया गया है कि जो कुछ आगमों-शास्त्रों के दर्शन में लिखा गया है, वह सत्य है। आवश्यकता केवल इतनी है कि हम उन बातों की ढंग से व्याख्या करें।

द्वीप तथा समुद्र

जैनदर्शन शास्त्रों में मध्यलोक में जिन द्वीपों तथा समुद्रों का वर्णन है² उनके बारे में लिखा है कि समस्त द्वीप-समुद्रों का समुदाय, समकेन्द्री तथा समअक्षीय है। द्वीप-समुद्र में स्थित समस्त तारे तथा नक्षत्रादि मेरू की प्रदक्षिणा करते हैं। यह भी बताया गया है कि मेरू पर्वत से अर्थात् जम्बू के केन्द्र से अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक की दूरी आधा रज्जु है।³ इस प्रकार द्वीप-समुद्रों का जो समुदाय है, उसका व्यास एक रज्जु होता है। चूँकि मध्यलोक की लम्बाई-चौड़ाई भी एक रज्जु ही है, अतः कहा जा सकता है कि 'एन' (असंख्यात) द्वीप समुद्रों के समुदाय का विस्तार मध्यलोक के विस्तार के तुल्य है। साथ ही एक रज्जु का मान $8.15..10^{20}$ मीटर (लगभग) है⁴ और यही हमारी गैलेक्सी का व्यास भी है (लगभग)⁵ इसलिये कहा जा सकता है कि 'एन' संख्या के द्वीप-समुद्रों का समुदाय और कुछ नहीं अपितु हमारी अपनी गैलेक्सी ही है। (आकाशीय दूरियाँ प्रायः 'लगभग' ही होती हैं।) दूसरे शब्दों में, जैन धर्म में वर्णित मध्यलोक और विज्ञान में वर्णित गैलेक्सी, दोनों की सीमाएँ समान हैं। जैन खगोल शास्त्रियों ने गैलेक्सीनुमा मध्यलोक को कई समकेन्द्रित तथा समअक्षीय वृत्तीय विभागों (Circular Zones) में बाँट दिया है जिन्हें क्रमशः जम्बद्वीप, लवण समुद्र, घातकी द्वीप, कालोधि समुद्र आदि

नाम दिये गये हैं। वे वृतीय विभाग वास्तव में कुछ सूर्यों, नक्षत्रों तथा ग्रहों के गुच्छ (Cluster) हैं। प्रत्येक द्वीप तथा प्रत्येक समुद्र एक निश्चित क्षेत्रफल का विभाग (Zone) प्रदर्शित करता है तथा पीछे-पीछे के विभाग का व्यास पहले से दुगुना होता है।

इनका नाम द्वीप तथा समुद्र क्यों दिया गया? इसका कारण मेरे अनुसार यह है कि जो द्वीप हैं उनमें तारों तथा उनके ग्रहों का गुच्छ चित्रा पृथ्वी के ऊपर है तथा जो समुद्र हैं उनके तारों तथा ग्रहों का निकाय चित्रा पृथ्वी के नीचे है। इस बात की पुष्टि के लिये 'तिलोक' पण्णति का महाअधिकार पांच देखें जिसमें लिखा है, "जितने समुद्र हैं वे रत्नप्रभा पृथ्वी के चित्रा भाग से नीचे की ओर हैं तथा जितने द्वीप हैं वे चित्रा पृथ्वी के ऊपर हैं। चित्रा-पृथ्वी 1000 योजन मोटी है तथा सभी समुद्र 1000 योजन गहरे हैं अर्थात् समुद्रों का तलभाग चित्रा को भेदकर वज्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित है।"⁶ इससे यह सिद्ध होता है कि चित्रा पृथ्वी को एक 'सन्दर्भ तल' (reference & standard surface) माना गया है। जिन-जिन विभागों का पदार्थ घनत्व इस सन्दर्भ तल से ऊपर की ओर है उन्हें 'द्वीप' तथा जिन विभागों का पदार्थ घनत्व सन्दर्भ तल (चित्रा) से नीचे की ओर है, उन्हें समुद्र नाम दिया गया। यहीं से पाताल लोक की धारणा भी मजबूत होती है।

चित्रा से बहुत नीचे वज्रा पृथ्वी से कुछ ऊपर जितने ग्रह हैं उन्हें पाताल लोक कहा गया है। गणितानुयोग में लिखा है " (जम्बूद्वीप में) प्रथम हिमवान पर्वत की चारों दिशाओं में, लवण समुद्र के अन्दर, तीन सौ योजन जाकर चार अन्तर्द्वीप हैं। साथ ही लवण समुद्र के भीतर 400, 500, 600, 700, 800 तथा 900 योजन नीचे जाकर चारों विदिशाओं में चार-चार अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार के अन्तर्द्वीपों की कुल संख्या 56 (दिगम्बर शास्त्रों में 96) हैं।⁷ इनमें तरह-तरह की आकृति वाले मनुष्यों तथा तिर्यच पाये जाते हैं। लगभग ऐसा ही वर्णन 'तिलोक पण्णति' भाग 3 के महा अधिकार 5 में भी मिलता है। इन सबूतों से एक बात निःसन्देह सिद्ध होती है कि जो समुद्र बताये गये हैं वास्तव में वे कोई जल-समुद्र नहीं है अपितु हमारी गलैक्सी के ही कुछ गोल चकतीनुमा अंश हैं, जिसमें कुछ तारे तथा उनके परिवार स्थित हैं। यही बात द्वीपों के लिये है। हाँ, यह हो सकता है कि इनके व्यक्तिगत नामकरण के पीछे कुछ कारण रहे हों। उदाहरणार्थ- जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र के एक भाग में शाश्वत जम्बू वृक्ष पाया जाता है। इसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप रखा गया। उसी प्रकार लवण समुद्र में जितने सूर्य हैं उनके किसी एक ग्रह में क्षारीय जल का समुद्र होगा, इसलिये इस विभाग का नाम लवण समुद्र रखा गया, आदि-आदि। यहाँ यह बात विचारणीय है कि वैदिक धर्म में जम्बूद्वीप को जम्बूद्वीप ही कहा गया है (विष्णु पुराण अंश 2, अध्याय 2, श्लोक 5-9) लेकिन बौद्ध धर्म में जम्बूद्वीप को मेरु के दक्षिण में स्थित एक क्षेत्र माना गया है। (अभिधर्मकोश, 3/46)।

उपरोक्त विवेचना से निम्न सार निकलता है :

- (a) एन संख्या के द्वीप और समुद्र का समुदाय हमारी गैलक्सी का द्योतक हो सकता है। हमारी गैलक्सी का सर्पीला आकार, द्वीप-समुद्रों के बैंड के आकार से मिलता है।
- (b) द्वीप समुद्रों का समुदाय, मध्यलोक तथा हमारी गैलक्सी, तीनों की विमाएं समान हैं।
- (c) जो भिन्न-भिन्न द्वीप-समुद्र हैं वे वास्तव में हमारी गैलक्सी के विभिन्न विभाग हैं।

द्वीप-समुद्र के बारे में इस दृष्टिकोण की पुष्टि हेतु 'तिलोय पण्णति' की यह गाथा देखिये⁸— "लवण समुद्र में 352 तथा घातकीखंड में 1056 ग्रह हैं।" स्पष्ट है कि लवण समुद्र इस मध्य लोक रूपी गैलक्सी का एक ऐसा विभाग है जिसमें 4 सूर्य, उनके 352 ग्रह, 4 चन्द्र तथा 112 नक्षत्र आदि हैं। इसी प्रकार जम्बूद्वीप एक ऐसा विभाग है जिसमें 2 सूर्य, 2 चन्द्र तथा प्रत्येक के 28 नक्षत्र हैं। इसी प्रकार अन्य द्वीप-समुद्र के बारे में जानें।

मेरू तथा अन्य पर्वत

असंख्यात् संख्या के द्वीप-समुदाय का जो बैंड है उसमें कुल मिलाकर असंख्य तारे हैं। जैन दर्शन में लिखा है कि ये सभी तारे मेरू पर्वत के चारों ओर प्रदक्षिणा देते हैं। विज्ञान के अनुसार हमारी समूची गैलक्सी अपने केन्द्र के परितः परिभ्रमण करती है। कोई वस्तु प्रदक्षिणा करे, इस हेतु एक अक्ष की आवश्यकता होती है। इसी अक्ष के परितः वस्तु का परिभ्रमण होता है। यदि असंख्य तारे मेरू के परितः परिभ्रमण करते हैं तो निश्चय ही मेरू पर्वत एक अक्ष के रूप में परिभाषित होना चाहिए। इसलिये मेरा सुझाव है कि—

- (1) मेरू पर्वत एक परिकल्पनीय अक्ष (Hypothetical axis) हैं। जिसके परितः मध्यलोक (गैलक्सी) का सम्पूर्ण पदार्थ परिभ्रमण करता है।
- (2) मेरू या तो परिकल्पित अक्ष है या फिर सूक्ष्म जगत (Micro, Astral World) की कोई हकीकत, जिसे केवल अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा केवल ज्ञान से ही अनुभूत किया जा सकता है।

जम्बूद्वीप

जम्बूद्वीप समस्त द्वीप-समुद्रों के समुदाय का सबसे छोटा तथा सबसे मध्य का (अभ्यंतर) द्वीप है। इसका विष्कम्भ-आयाम (व्यास) एक लाख योजन है तथा गोलाकार है। लगभग सभी जैन मनीषी जम्बूद्वीप को पृथ्वी का सूचक मानकर सारा वर्णन समझाते हैं

और यहीं से भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मेरा कथन है कि जम्बूद्वीप, पृथ्वी नहीं है अपितु इस मध्यलोक (गैलक्सी) का सबसे छोटा तथा केन्द्रीय वृत्तीय विभाग है जिसमें दो सूर्य तथा उनका सौर परिवार स्थित है।

इस परिवार में पृथ्वी एक सदस्य मात्र है। इस तर्क के लिये मैं निम्न प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ—

- (1) जम्बूद्वीप में भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र (कुछ भाग छोड़कर शेष) को कर्मभूमि बताया गया है एवं शेष सारे क्षेत्रों को भोगभूमि कहा गया है। भोगभूमि वह होती है जहाँ मनुष्य तथा तिर्यच कोई कर्म (असि, मसि, कृषि आदि) नहीं करता अपितु कल्पवृक्ष से ही अपना पूर्ण जीवन निर्वाह कर लेता है। यदि जम्बूद्वीप ही पृथ्वी है तो पृथ्वी के कौन से महाद्वीप का कौनसा देश है जहाँ मनुष्य और पशु-पक्षी कर्म नहीं करते हों और केवल एक कल्पवृक्ष के आधार पर जीवन यापन करते हों?
- (2) यदि जम्बूद्वीप ही पृथ्वी है तो इस पृथ्वी के कौन से देश के कौन से शहर या वनप्रान्त में जम्बूवृक्ष स्थित है जिसका वर्णन जैन शास्त्रों में है?
- (3) यदि जम्बूद्वीप ही पृथ्वी है तो जम्बू को चारों ओर से घेरे हुए लवण समुद्र क्या है जिसमें चार सूर्य और 352 ग्रह हैं? यदि यह पृथ्वी के महासागरों का सूचक है तो इसका व्यास दो लाख योजन (जम्बू से दुगुना) कैसे हो सकता है जबकि महासागर तो पृथ्वी के ही हिस्से हैं?
- (4) पृथ्वी एक गृह है, इसे द्वीप क्यों कहा गया?
- (5) जम्बूद्वीप में वर्णित वे छः विषधर पर्वत कहाँ हैं जिनके पूर्व-पश्चिम के सिरे लवण समुद्र को छूते हों?
- (6) जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों की कुल चौदह प्रमुख नदियों के नाम दो-दो के युग्म में बताये गये हैं यथा-गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्य, नारी-नारीकान्ता, स्वर्णकूला-रूपकूला, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, रक्ता-रक्तोदा। इनमें से गंगा-सिन्धु को भरतक्षेत्र में बहता हुआ माना गया है। यदि वे सब इसी पृथ्वी की नदियाँ हैं तो प्रश्न है कि इनमें से हमने केवल गंगा-सिन्धु युग्म का ही नाम सुना और देखा है, शेष का क्यों नहीं? यदि शेष के नाम परिवर्तित हों गये हो तो गंगा-सिन्धु के नाम क्यों नहीं बदले?
- (7) जम्बूद्वीप नियत, शाश्वत, अक्षय, नित्य माना गया है। पृथ्वी के लिये ये बातें लागू नहीं हो सकती, क्योंकि पृथ्वी तो सूर्य से जन्मी है।

- (8) जीवाभिगम सूत्र, भगवती, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णति, त्रिलोकसार आदि सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य ग्रंथों में जम्बूद्वीप का आकार तेल के पूवे जैसा गोल, रथ के पहिये जैसा गोल, पूर्णचन्द्र जैसा वृत्त संस्थान का माना गया है। ये सभी आकार वृत्तीय चकती जैसे गोल आकार की ओर इशारा करते हैं जिसकी वृत्तीय विमा नहीं होती। जबकि पृथ्वी तो नारंगी या किसी गेंद जैसी त्रिविमीय गोलाकार (Spherical Shaped) है।
- (9) जम्बू को अभ्यंतर (सबसे बीच वाला) द्वीप माना गया है। पृथ्वी किस निकाय का अभ्यंतर भाग है?
- (10) जम्बू सबसे छोटा है जबकि ग्रहों के बीच पृथ्वी सबसे छोटी नहीं हैं।
- (11) जगती, गवाक्ष, चार द्वार, वेदिका आदि पृथ्वी पर कहाँ हैं?
- (12) भरत और ऐरावत जैसे एक समान दो भाग पूरी पृथ्वी पर कहीं नहीं हैं।
- (13) उत्तरकुरु क्षेत्र में कमल तथा कस्तूरीमृग जैसी गंधवाले, ममत्वरहित, सहनशील तथा शनैः-शनैः चलने वाले (शनैश्चरी) जीव रहते हैं, ऐसा समस्त जैन शास्त्रों में वर्णन है। उत्तरकुरु और देवकुरु में मनुष्यगण 49 अहोरात्रि में ही युवावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा कहा गया है। क्या यह वर्णन पृथ्वी के किसी भाग में संभव है या था?
- (14) जम्बूद्वीप का व्यास एक लाख योजन बताया गया है। यदि एक योजन का न्यूनमान (1y...=4 कोस= 8 मील=12.8 किलोमीटर) भी लेकर चलें तो जम्बू का व्यास बारह लाख अस्सी हजार किलोमीटर प्राप्त होता है। हमारी पृथ्वी इतनी बड़ी कभी नहीं रहीं। अरबों वर्ष पूर्व अपने जन्म के समय भी वह इतनी बड़ी नहीं थी, क्योंकि याद रखें कि सूर्य का व्यास चौदह लाख किलोमीटर (से कुछ कम) है तथा पृथ्वी उसका एक टुकड़ा मात्र है। अतः पृथ्वी का व्यास कभी 12,80,000 किलोमीटर रहा हो, यह संभव नहीं है। (पृथ्वी का व्यास तो इससे सौवां भाग ही है।)

उपरोक्त तर्कों से यह सिद्ध होता है कि जम्बूद्वीप पृथ्वी का द्योतक नहीं है। निःसन्देह वह इस मध्यलोक के आकाश का ऐसा विभाग (Circular Zone) है जिसमें दो सूर्य हैं। ऐसा मानने से हमारे शास्त्रों में वर्णित दो सूर्यों का सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है।

दो सूर्य का सिद्धान्त

जैन खगोल दर्शन में जम्बूद्वीप में दो सूर्यों का होना बताया गया है। यदि जम्बू को पृथ्वी माने तो यह बात प्रेक्षकों से परे हो जाती है। लेकिन यदि जम्बू को आकाश का एक

मध्य विभाग माना जाए तो दो सूर्य का अस्तित्व समझ में आ सकता है। जम्बू रूपी विभाग के दक्षिणी अर्ध भाग से एक तथा उत्तरी अर्धांश से एक, इस प्रकार जम्बू में दो सूर्य दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से एक हमारा सूर्य है जिसके नौ ग्रह तथा उनके कुछ उपग्रह हैं। ग्रहिकाएँ (Asteroids), तारिकाएँ, नक्षत्र आदि भी हैं। पृथ्वी इसी सूर्य का एक ग्रह है। जैन दर्शन में कुछ ग्रह 88 (कुछ शास्त्रों में 83) बताये गये हैं। इसी प्रकार दूसरे सूर्य का भी एक परिवार है। ऐरावत उसी का एक ग्रह है। दोनों सूर्य 180 योजन जम्बू में तथा (330.. 48) योजन लवण समुद्र में गमन करते हैं।¹⁰

एक सूर्य की उदय दिशा आग्नेय, तो दूसरे की वायव्य होती है।¹¹ ये दिशाएँ मेरू के सन्दर्भ में कही गई प्रतीत होती है अर्थात् यदि मेरू पर्वत से या जम्बू विभाग के केन्द्र से खड़ा होकर देखा जाए तो एक सूर्य आग्नेय तथा दूसरा वायव्य विदिशा से उदित होता हुआ प्रतीत होता है। दोनों की कक्ष एक-दूसरे को कहीं काटती नहीं है अर्थात् दोनों किसी एक स्थान पर साथ-साथ मिलते हों, ऐसा नहीं होता। एक सूर्य की कक्षा जम्बू के दक्षिणी अर्ध में पूरी हो जाती है तथा दूसरे की उत्तरी अर्ध भाग में। इन दोनों सूर्य के आतप एवं तिमिर क्षेत्र का विस्तार मेरू के मध्य से लवण समुद्र के छठे भाग पर्यन्त अर्थात् 83, 3331 योजन है।¹² एक सूर्य के कारण ताप क्षेत्र में जितना आतप रहता है उससे दुगुना आतप दो सूर्यों के कारण होता है।¹³ इस प्रकार जम्बू तथा लवण समुद्र के कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहाँ दोनों सूर्य का संयुक्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दोनों सूर्य के मध्य क्षैतिज दूरी का न्यूनतम (उनके प्रथम कला मंडल में होने पर) 99,640 योजन तथा महत्तम मान (उनके अन्तिम कला में होने पर) 1,00,660 योजन है।

इनके मध्य दूरी का औसत मान 1,00,150 योजन प्राप्त होता है। यदि आकाशीय दूरियों को नापने हेतु हम एक योजन (महायोजन) का मान 4000 मील (=6400 किलोमीटर=6.4 x 10⁶ मीटर) लें तो दोनों सूर्य के मध्य औसत दूरी 6.41 x 10¹¹ मीटर प्राप्त होती है। विज्ञान में कहा गया है कि हमारे सूर्य से जो निकटतम सूर्य है वह “Alpha Centauri” कहलाता है। उसके हमारे सूर्य से दूरी कुछ 1.6 x 10¹⁵ मीटर है।

इसी प्रकार जम्बू में दो चन्द्र का होना बताया गया है। चन्द्र हमारा उपग्रह है। वैसे तो केवल हमारे ही सूर्य के जितने ग्रह हैं उनके कुल उपग्रहों का योग (विज्ञानानुसार) 56 है लेकिन जैन दर्शन में शायद उपग्रहों को भी ग्रहों के साथ जोड़कर सबके लिये ‘भूमि’ शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसलिये जैन धर्म में कुल ग्रहों (भूमियों) की संख्या 88 (या 83) बताई गई है तथा केवल भरत और ऐरावत के उपग्रह को ही चन्द्र मानकर चन्द्रों की कुल संख्या दो बताई गई है।

जैन शास्त्रों में ग्रह परिवार के प्रमुख के रूप में चन्द्र को माना गया है, सूर्य को नहीं। ढाई हजार वर्ष पहले संसार की सत्ता का केन्द्र चन्द्र माना जाता था। संवत्सर भी चन्द्र आधारित ही बनते थे। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य के ग्रह और ग्रहों के चन्द्र होते हैं लेकिन पूर्व में यह माना जाता था कि प्रत्येक चन्द्र का एक परिवार होता है जिसमें कुछ ग्रह, कुछ तारे, कुछ नक्षत्र और एक सूर्य होता है।

भरत क्षेत्र क्या है

समस्त जैन शास्त्रों के अनुसार यदि जम्बूद्वीप के 190 समान टुकड़े किये जाएं तो उनमें से एक टुकड़ा भरत क्षेत्र होगा। चूँकि जम्बूद्वीप वृतीय चकतीनुमा है, इसलिये ये टुकड़े, उसके क्षेत्रफल के ही हो सकते हैं, व्यास के नहीं। अधिकांश शास्त्रों में लिखा है कि जम्बूद्वीप के व्यास (एक लाख योजन) में 190 का भाग देने पर जो राशि प्राप्त होती है (526.31 योजन) वह भरत क्षेत्र का व्यास है। यह तर्क असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि व्यास के 190 टुकड़ें करने से किसी द्विविमीय या त्रिविमीय क्षेत्र के भी 190 समान टुकड़े होंगे, यह व्याख्या गलत है। जब आप किसी चकती के ऐसे टुकड़े करें कि उसका सबसे न्यून टुकड़ा चकती का 190 वां अंश हो, फिर अगला टुकड़ा पहिले से दुगुना हो, तीसरा टुकड़ा दूसरे से दुगुना हो..... फिर केन्द्र के बाद के टुकड़े क्रमशः आधे-आधे हों, तो निश्चित ही आपको चकती की फांक या स्लाईस (Slice) काटना होगी।¹⁴ ऐसी स्लाईस काटने पर आप वास्तव में क्षेत्रफल के टुकड़े करते हैं ना कि व्यास के।

जैन शास्त्रों के अनुसार¹⁵ भरत क्षेत्र का क्षेत्रफल 21,7370,2229/361 वर्ग योजन (=602,1335.6=लगभग 6×10^6 वर्गयोजन) है। यद्यपि 'तिलोयपण्णति'¹⁶ में जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल 79,05,69,41,50 वर्ग योजन बताया है और इसके 190 टुकड़े करने पर एक टुकड़े (भरत) का क्षेत्रफल 41.3×10^6 वर्ग योजन प्राप्त होता है। इस असमानता का जो भी कारण रहा हो, यदि हम भरत का क्षेत्रफल पूर्व मान के अनुसार 602,1335.6 वर्ग योजन मानें तथा उसे चकतीनुमा मानकर उसका पृष्ठ क्षेत्रफल $4\pi r^2$ के सूत्र से निरूपित करें (किसी चकती का अर्ध व्यास r हो तो उसका पृष्ठ क्षेत्रफल $4\pi r$ होता है।) तो-

$$4 \pi r^2 = 6021335.6 \text{ योजन}^2$$

$$\text{अतः } r = 692.4 \text{ योजन,}$$

$$\text{चूँकि } 1 \text{ योजन} = 4 \text{ कोस} = 8 \text{ मील} = 12.8 \text{ किलोमीटर है}$$

$$\text{अतः } r = 692.4 \times 12.8 \text{ किलोमीटर}$$

$$= 8862.7 \text{ किलोमीटर}$$

यह मान पृथ्वी त्रिज्या के लगभग समतुल्य है। यद्यपि आज पृथ्वी की आंतरिक त्रिज्या 6400 किलोमीटर मानी जाती है। लेकिन आज से हजारों वर्ष पूर्व पृथ्वी की त्रिज्या 8862.7 किलोमीटर हो, यह संभव है। इसलिये मेरा सुझाव है कि जैनधर्म में जिसे भरत क्षेत्र कहा गया है वह वास्तव में हमारी पृथ्वी का द्योतक है अथवा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें पृथ्वी के साथ-साथ कुछ अन्य छोटे आकाशीय पिण्ड हों या पृथ्वी एवं कुछ रिक्त स्थान हो। इसे भरत क्षेत्र इसलिये कहा गया होगा कि पृथ्वी पर भारतवर्ष नाम का एक विशाल एवं प्रसिद्ध क्षेत्र है जिसमें हजारों वर्ष पूर्व अपनी सीमाओं का विस्तार आज से कहीं अधिक रहा होगा। भरत क्षेत्र पृथ्वी का द्योतक हो सकता है, इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये मैं निम्न तर्क प्रस्तुत करना चाहता हूँ-

- (1) तिलोयपण्णति (भाग 2, गाथा 2402) में भरत क्षेत्र का क्षेत्रफल 602, 1335.6 वर्गयोजन बताया गया है, वह भारत वर्ष का क्षेत्रफल ही नहीं सकता।
- (2) वैदिक धर्म में यह माना गया है कि काल का परिवर्तन केवल भरत क्षेत्र में ही संभव है। साथ ही विष्णु पुराण के अन्तिम अध्याय के उपसंहार में लिखा है कि भरत को छोड़कर शेष सभी भोग भूमियाँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि भरत क्षेत्र ही पृथ्वी है जो कर्मभूमि है। जैनों में वर्णित अन्य कर्मभूमियाँ तथा भोगभूमियाँ अन्य ग्रहों के द्योतक हैं।
- (3) यदि वैज्ञानिक धारणा के अनुसार यह मान लिया जाए कि आज से करोड़ों वर्ष पूर्व एशिया, यूरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण उत्तर अमेरिका मिलकर एक ही भूमि भाग बनाते थे तथा कालान्तर में जल आधिक्य के कारण जो महासमुद्र बने, उनसे अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के भू भाग से पृथक् हो गये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत क्षेत्र पृथ्वी को ही कहा जाता था।
- (4) गणितानुयोग (आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद) की प्रस्तावना में पं. हीरालाल शास्त्री लिखते हैं, 'भरत तथा अन्य कर्म भूमियों के मनुष्य तथा तिर्यच अगले भव में नारकी, देव या सिद्ध बन सकते हैं।' यदि भरत से तात्पर्य केवल भारतवर्ष से होता तो 'सिद्ध' तो ठीक है लेकिन क्या 'नारकी और देव' भी केवल भारत वर्ष के ही जीव बनते?
- (5) भरतक्षेत्र के बाद जो क्षुल्लक हिमवान पर्वत है वह 100 योजन (=1280 किलोमीटर) ऊँचा बताया गया है। भारत के (और पृथ्वी के भी) सबसे

बड़े शिखर (गौरीशंकर चोटी) की ऊँचाई केवल 29000 फीट (लगभग 8.8 किलोमीटर) है। क्षुल्लक हिमवान पर्वत की चौड़ाई लगभग 1052 योजन तथा पूर्व पश्चिमी लम्बाई लगभग 5350 योजन बताई गई है।¹⁷ इससे भी यही ज्ञात होता है कि भरतक्षेत्र पृथ्वी ही है और क्षुल्लकहिमवान पर्वत पृथ्वी के बाहर का कोई आकाशीय रिक्त स्थान है।

- (6) तिलोयपण्णति की एक गाथा¹⁸ में कहा गया है, “ भरत एवं ऐरावत क्षेत्र पर (अर्थात् निषध एवं नील पर्वत के ऊपर) एक ही समय सूर्यादय तथा सूर्यास्त होता है।” इससे जाहिर होता है कि भरत तथा ऐरावत, दो भिन्न ग्रह हैं। चूँकि दोनों के सूर्य अलग-अलग हैं, इसलिये यह संभव है कि दोनों ग्रंथों पर एक ही समय में सूर्योदय तथा सूर्यास्त होता हो।

उपरोक्त तर्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जो जम्बू विभाग का 190वां अंश है तथा इस क्षेत्र में पृथ्वी एवं कुछ रिक्त स्थान अथवा पृथ्वी एवं कुछ छोटे-छोटे आकाशीय पिण्ड हैं अथवा केवल पृथ्वी है।

निष्कर्ष-

1. जैन शास्त्रों में जिस मध्यलोक का वर्णन किया गया है उसकी विमा तथा आधुनिक विज्ञान में वर्णित हमारी गैलक्सी की विमा समान होने से यह संभावना हो सकती है कि मध्यलोक वास्तव में हमारी गैलक्सी का द्योतक है।
2. मध्यलोक में जो विभिन्न द्वीप तथा समुद्र बताये गये हैं वे इस गैलक्सी के भिन्न-भिन्न विभाग (Zones) हैं जो वृत्तीय चकती के आकार के हैं। इन द्वीप-समुद्रों का आकार तथा विस्तार गैलक्सी के आकार तथा विस्तार के तुल्य है।
3. जो द्वीप हैं वे द्वीप इसलिये कहलाते हैं कि उनका समूचा पदार्थ-घनत्व चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित है तथा जो समुद्र इसलिये कहलाते हैं कि उनका पदार्थ घनत्व, चित्रा से नीचे की ओर है। चित्रा को एक सन्दर्भ तल (reference level) माना गया है।
4. सबसे मध्य में सबसे छोटा विभाग जम्बूद्वीप है। इस भाग में दो सूर्य तथा उनका सौर परिवार है।
5. मेरू एक परिकल्पित अक्ष (hypothetical axis) है। समस्त द्वीप-समुद्र इस अक्ष के परितः समअक्षीय हैं।

6. जो भरत क्षेत्र है वह वास्तव में ऐसा क्षेत्र है जिसमें हमारी पृथ्वी स्थित है। यह भी हो सकता है कि पृथ्वी के साथ कुछ आकाशीय स्थान भी रिक्त रूप में हो। इस क्षेत्र का नाम भरत क्षेत्र इसलिये रखा गया है कि इसमें स्थित पृथ्वी पर भारतवर्ष नाम का एक देश है।
7. जम्बूद्वीप में जो 7 क्षेत्र बताये गये हैं वे सभी कोई ग्रह हैं तथा जो 6 विषधर पर्वत हैं, वे कोई रिक्त आकाशीय स्थान है। जम्बू के दक्षिण में स्थित तीन क्षेत्र तथा तीन पर्वत हमारे सूर्य के परिवार के सदस्य हैं जबकि जम्बू के उत्तर में स्थित तीन क्षेत्र तथा तीन पर्वत दूसरे सूर्य के परिवार के सदस्य हैं। विदेह क्षेत्र एक ऐसा ग्रह है जिसका अर्धभाग (दक्षिणी) हमारे परिवार में है तथा उसका शेष अर्धभाग (उत्तरी) दूसरे सूर्य के परिवार में है। यह भी हो सकता है कि यह दो छोटे ग्रहों का समूह हों। विदेह के केन्द्र से गुजरते हुए एक अक्ष की परिकल्पना की गई है जिसे मेरु पर्वत कहा गया है तथा जिसके परितः यह गैलक्सी परिभ्रमण करती है। जिस प्रकार पृथ्वी अपनी धुरि (अक्ष) के परितः घूमती है। लेकिन वास्तव में वहाँ धुरि जैसी कोई वास्तविक वस्तु मौजूद नहीं है, वैसी ही तस्वीर मेरु की होनी चाहिए।

सन्दर्भ :-

1. त्रिलोकसार, तिलोयपण्णति, लोकविभाग, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप पण्णतिसमुहाओं, हरिवंशपुराण, सिद्धान्तसार दीपक, व्याख्याप्रज्ञप्ति, गणितानुयोग तथा करणानुयोग से संबंधित अन्य ग्रंथ।
2. तिलोयपण्णति में 64 द्वीप-समुद्रों का वर्णन है।
तिलोयपण्णति भाग 3, महाअधिकार 5, गाथा 13 से 26।
3. तिलोयपण्णति -3 म.अ. 5, गाथा 34 तथा त्रिलोकसार, आदि।
4. कॉस्मालाजी ओल्ड एण्ड न्यू, प्रो. जी.आर. जैन, पेज 80 (सन्दर्भ जर्मन दार्शनिक वॉन ग्लेसनप द्वारा लिखित पुस्तक "दर-जैनिस्मस")। इसके अनुसार कोई देव 6 माह में 2057152 योजन प्रति क्षण की दर से जो दूरी तय करे वह 1 रज्जु है। यदि एक योजन (महायोजन) का शास्त्रोक्त मान 4000 मील अर्थात् 6400 किलोमीटर अर्थात् 6.4×10^6 मीटर लिया जाएं (आकाशीय दूरियों हेतु यह मान सर्वमान्य है) तथा एक क्षण को 0.25 सैकेण्ड के तुल्य लिया जाएं तथा 6 माह के $6 \times 30 \times 24 \times 60 \times 60$ सैकेण्ड बनाये जाएं तो 1 रज्जु का मान 8.15×10^{20} मीटर प्राप्त होता है। रज्जु का यह मान सत्य है अथवा नहीं, इससे लेख के निष्कर्षों में विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।
5. ए ब्रिफ हिस्ट्री ऑफ टाइम, स्टीफन हार्किंग्स, जिसमें बताया गया (अ. 3, पेज 39) है

कि हमारी गैलक्सी का व्यास 1,00,000 प्रकाश वर्ष है। चूंकि 1 प्रकाश वर्ष में 9.5×10^{15} मीटर होते हैं? इसलिये इस गैलक्सी का व्यास 9.50×10^{20} मीटर होता है। कुछ वैज्ञानिक गैलक्सी का व्यास 90,000 प्रकाश वर्ष = $8-55 \times 10^{20}$ मीटर मानते हैं।

6. तिलोयपण्णति -3 म.अ.5, गाथा-10 पेज 3
7. गणितानुयोग, मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग ट्रस्ट अहमदाबाद, 'तिर्यक्रलोक', गाथा 244 पेज 194.
8. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 599 तथा 604, पेज 414-415
9. गणितानुयोग, मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग ट्रस्ट अहमदाबाद अध्याय 2, सूत्र 9, पेज 125
10. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 218, पेज 295
11. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 451 पेज 367
12. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 295 पेज 318
13. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 362 पेज 339
14. तिलोयपण्णति -3, प्रस्तावना, प्रो. डॉ. राधाचरण गुप्त, पेज 46
15. तिलोयपण्णति भाग-2 गाथा 2402 पेज 636
16. तिलोयपण्णति -2 गाथा 59 पेज 17
17. गणितानुयोग सूत्र 336, पेज 226
18. तिलोयपण्णति -3 म.अ.7, गाथा 447, पेज 366

चौदह गुण स्थान : एक विमर्श

— मुनि मदन कुमार

समवायांग में चौदह जीव स्थान का निरूपण है। उत्तरवर्ती साहित्य में ये 'गुणस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कर्म ग्रन्थ में चौदह भूतग्राम को चौदह जीव स्थान और चौदह जीव स्थान को चौदह गुणस्थान कहा गया है। आगम साहित्य में गुणस्थान शब्द का प्रयोग प्राप्त नहीं है। गोम्मट सार में जीवों को 'गुण' कहा गया है। उसके अनुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदि की भावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते हैं। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने पर जीवस्थानों को गुणस्थान की संज्ञा दी गई है। धवला टीका में औदयिक आदि पाँच भावों को गुण कहा गया है। इन गुणों के साहचर्य से जीव को भी गुण कहा गया है। जीव स्थान को उत्तरवर्ती साहित्य में इसी अपेक्षा से गुणस्थान कहा गया है। जैन सिद्धांत दीपिका में आचार्य श्री तुलसी ने लिखा— 'कर्म विशुद्धेर्मार्गणापेक्षाणि चतुर्दशजीवस्थानानि' कर्मविशुद्धि की तरतमता की अपेक्षा से जीवों के चौदह स्थान होते हैं। धर्म और धर्मों में अभेद का उपचार करने पर जीवस्थान गुणस्थान कहलाते हैं।

चौदह गुणस्थान आत्मविशुद्धि की क्रमिक भूमिकाएँ हैं। इसमें समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। गुणस्थान छूटने के बाद जीवमुक्त हो जाता है। मुक्त आत्माओं में गुण होते हैं किन्तु गुणस्थान नहीं। इन चौदह गुणस्थानों का आधार कर्म विलय है। आठ कर्मों में प्रधान कर्म मोह कर्म है। उसके उदय से जीव मलिनता को और अनुदय से विशुद्धता को अर्जित करता है। मोहकर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। प्रथम गुणस्थान में वे सभी उदय में रहती हैं और ग्याहरवें गुणस्थान में वे उपशम को तथा बारहवें गुणस्थान में क्षय को प्राप्त हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि गुणस्थानों की रचना का मौलिक आधार मोह कर्म का विलीनीकरण है। मोह विलय के पश्चात ही तेरहवें गुणस्थान में घाति त्रिक का क्षय होता है और आत्मा सर्वज्ञ दशा को प्राप्त हो जाती है। चौदहवें गुणस्थान में आत्मा शैलेशी अवस्था को प्राप्त

कर चार भवोपग्राही कर्मों को क्षीण कर देती है और सिद्ध बनकर लोकान्त में अवस्थित हो जाती है।

प्रथम गुणस्थान अनन्तानन्त जीवों का आश्रय स्थान है। इसमें जीव अनन्तानन्त काल तक रह सकता है। इसके अतिरिक्त किसी भी गुणस्थान में जीव अनन्त काल तक नहीं रह सकता है। प्रथम गुणस्थान अभव्य जीव के लिए अनादि और अनन्त है तथा मोक्षगामी। भव्य जीवों के लिए अनादि और सान्त अन्तसहित है। जो जीव मिथ्यात्व को त्याग, सम्यक्त्व प्राप्त कर फिर मिथ्यात्वी बन जाते हैं और उसके बाद सम्यक्त्व को पुनः प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान आदि सहित और अन्त सहित है।

गोम्मटसार में प्रथम गुणस्थान को औदयिक भाव माना है किन्तु समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्म-विशुद्धि बतलाया गया है। **कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्टाणा पन्नता** - इस आगम पाठ से प्रथम गुणस्थान औदयिक भाव प्रमाणित नहीं होता किन्तु वह क्षयोपशमिक भाव है। मिथ्यात्वी पुरुष में जो क्षयोपशमिक गुण है उसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति की जितनी सही दृष्टि है वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। मिथ्यात्वी व्यक्ति में जो मिथ्यात्व है, तत्त्व ज्ञान के प्रति विपरीत आस्था है वह गुणस्थान नहीं है। मिथ्यात्वी व्यक्ति में जो समता है, दृष्टि और आचरण की शुचिता है उसे ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहना चाहिए। मिथ्यात्वी की सही समझ मिथ्यात्व के सही संसर्ग से ही मिथ्यादृष्टि कहलाती है। यहाँ पात्र- विचार से मिथ्यात्वी व्यक्ति में पायी जाने वाली यत्किंचित सम्यक्दृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। यद्यपि प्रथम गुणस्थान में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है, इससे यदि प्रथम गुणस्थान को औदयिक भाव कहा जाए तो चरित्र मोहनीय कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है तो क्या इन सभी गुणस्थानों को औदयिक भाव कहा जायेगा? वस्तुतः आत्मा-विशुद्धि की तरतमता पर आधारित होने से ये सभी गुणस्थान औदयिक भाव नहीं हैं। गोम्मटसार में द्वितीय गुणस्थान - सास्वादन सम्यक् दृष्टि को पारिणामिक भाव कहा गया है किन्तु यह भी यौक्तिक नहीं है। इस गुणस्थान में सम्यक्त्व का किंचित् स्वाद रहता है। इस अपेक्षा से इसे क्षयोपशमजन्य कहना चाहिए। आगमिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रथम तीन गुणस्थान क्षयोपशमिक और पारिणामिक भाव है। चौथा गुणस्थान औदयिक भाव छोड़कर चार भावात्मक है। पाँचवे से दसवाँ गुणस्थान क्षयोपशमिक और पारिणामिक भाव है। ग्यारहवाँ गुणस्थान औपशमिक और पारिणामिक भाव, बारहवाँ तथा तेरहवाँ गुणस्थान क्षायिक और पारिणामिक भाव तथा चौदहवाँ गुणस्थान केवल पारिणामिक भाव है। इस आगम विवक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी चौदह गुणस्थान एकान्त निरवद्य और जिनाज्ञा में हैं। इतना होने पर भी यदि हेय ओर उपादेय की दृष्टि से विर्मश किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि चौदह ही गुणस्थान हेय

हैं, क्योंकि उन्हें छोड़े बिना मोक्ष नहीं मिलता है और चौदह ही गुणस्थान उपादेय हैं, क्योंकि वे कर्म की विशुद्धि से प्राप्त होते हैं। सापेक्ष चिन्तन के द्वारा यह भी कहा जा सकता है कि चौदह ही गुणस्थानों में पूर्ववर्ती गुणस्थान छोड़ने योग्य है तथा उत्तरवर्ती गुणस्थान स्वीकार करने योग्य है। जैसे छट्टे गुणस्थानवर्ती श्रमण के लिए पाँचवां गुणस्थान हेय है तथा सातवां गुणस्थान उपादेय है।

गोम्मटसार में चौदह गुणस्थान को क्षायिक भाव कहा गया है किन्तु यह भी विर्मशनीय है। उसे क्षायिक भाव क्यों कहा जाए ? ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म-इस घाति त्रिक का क्षय तेरहवें गुणस्थान में ही हो जाता है तथा चार भवोपग्राही कर्मों का क्षय चौदहवां गुणस्थान छूटने पर होता है। ऐसी स्थिति में चौदहवें गुणस्थान को केवल पारिणामिक भाव कहना ही युक्तिसंगत लगता है। यह भलीभाँति जानना चाहिए कि चौदहवां गुणस्थान किसी कर्म के द्वारा निष्पन्न नहीं है।

नाम कर्म के उदय से जीव के चौदह भेद निष्पन्न होते हैं। इन सभी भेदों में मिथ्या दृष्टि गुणस्थान पाया जाता है। चार गति, पाँच जाति, छः काय आदि में सर्वत्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की विद्यमानता है। सास्वादन सम्यग्दृष्टि त्रसकाय के अपर्याप्त और सत्री पंचेन्द्रिय के पर्याप्त में पायी जाती है। उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जीव जब नीचे गिरता है -प्रथम गुणस्थान की ओर उन्मुख होता है, तब उस अन्तराल काल में सास्वादन सम्यक्त्व पायी जाती है। मिश्रदृष्टि केवल सत्री पंचेन्द्रिय के पर्याप्त में ही पायी जाती है। मिश्रदृष्टि तत्त्व के प्रति संदिग्ध अवस्था है। इसमें विचारधारा निश्चित नहीं होती है। सम्यक् और असम्यक् का निश्चय नहीं होता है। यह आत्मा की संदेह सहित दोलायमान अवस्था मनोयोग पूर्वक होती है। अतः मिश्रदृष्टि गुणस्थान में जीव का भेद एक चौदहवां ही पाया जाता है। अविरति सम्यक् दृष्टि सत्री पंचेन्द्रिय के अपर्याप्त और पर्याप्त दोनों में ही पायी जाती है। सम्यक्त्व अन्तराल गति में भी जीव के साथ रह सकने के कारण वह अपर्याप्त अवस्था में भी उपलब्ध होती है। तीर्थंकर के जीव देव गति या नरक गति से निकल कर जब मनुष्य गति में अवतरित होते हैं तब उनमें अपर्याप्त अवस्था में भी सम्यक्त्व पायी जाती है। इस तरह अपर्याप्त अवस्था में भी चतुर्थ गुणस्थान संभव है, ऐसा चारों गतियों के जीवों में संभव है। पर्याप्त अवस्था में जीव तत्त्व को जानकर अथवा जाति स्मरण ज्ञान आदि के द्वारा सम्यक्त्व को अर्जित कर लेता है। जैसे गणधर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर की देशना सुनकर सम्यक्त्व की प्राप्ति की और नन्दन मणिकार ने जाति स्मरण ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व को पाया। देशविरति आदि सभी गुणस्थानों में जीव का भेद एक चौदहवां ही पाया जाता है, क्योंकि व्रत का स्वीकरण केवल पर्याप्त अवस्था में ही किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि अन्तराल गति में सम्यक्त्व साथ में रह सकता है किन्तु चारित्र नहीं, अतः संवरयुक्त सभी गुणस्थान केवल पर्याप्त अवस्था में ही पाये जाते हैं।

एक जीव में तथा एक काल में एक ही गुणस्थान पाया जाता है। संसारी जीवों में गुणस्थान का परिवर्तन होता है किन्तु गुणस्थान शून्य स्थिति कभी नहीं आती है। पाँच गुणस्थान शाश्वत हैं जो कभी जीवशून्य नहीं होते हैं - पहला, चौथा, पाँचवाँ, छट्टा और तेरहवाँ गुणस्थान। तीन गुणस्थान अमर हैं, जिनमें जीव का कभी मरण नहीं होता है। वे हैं- तीसरा, बारहवाँ और तेरहवाँ गुणस्थान। अन्तराल गति में तीन गुणस्थान पाये जाते हैं- पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान। तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं जिसमें जीव का अधोगमन नहीं होता है। वे हैं :- बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान।

मिथ्यादृष्टि, सास्वादन सम्यग्दृष्टि और अविरति सम्यग् दृष्टि गुणस्थान में तेरह योग पाये जाते हैं। आहारकलब्धि चतुर्दश पूर्वधर मुनि के ही होती है, अतः आहारक काययोग और मिश्र काययोग छट्टे गुणस्थान में ही पाये जाते हैं। उक्त मुनि आहारकलब्धि का प्रस्फोट कर आहारक शरीर का निर्माण करते हैं। यह शरीर पूर्ण बनकर जो गमनागमन आदि क्रिया करता है वह आहारक काययोग है। जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक औदारिक के संयोग से आहारक मिश्रकाय योग होता है। मिश्र गुणस्थान में दस योग पाये जाते हैं। चार मन के, चार वचन के तथा औदारिक और वैक्रिय काययोग। मिश्र गुणस्थान चार गतियों में पाता है, क्योंकि तत्त्व विषयक शंकास्पद स्थिति चारों गतियों में निर्मित होती है। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में चार मन और चार वचन योग के साथ औदारिक काययोग पाता है तथा देव और नरक जाति में चार मन और चार वचन के साथ वैक्रिय काययोग पाता है। देशविरति गुणस्थान में बारह योग पाते हैं। आहारक, आहारक मिश्र और कर्मण काय योग छोड़कर आहारक और आहारक मिश्र केवल छठे गुणस्थान में ही पाया जाता है तथा कर्मण काययोग अपर्याप्त अवस्था में अथवा केवली समुद्घात दशा में ही पाया जाता है, अतः देश विरति गुणस्थान में बारह योग पाए जाते हैं।

प्रमत्त संयत गुणस्थान में चौदह योग पाते हैं। कर्मण काययोग को छोड़कर अप्रमत्त संयत गुणस्थान से क्षीणमोह गुणस्थान तक पाँच योग पाते हैं - सत्य मन, व्यवहार मन, सत्य वचन, व्यवहार वचन और औदारिक काय योग। ये सभी अप्रमत्त अवस्था के गुणस्थान हैं जिनमें अशुभ योग और लब्धि प्रयोग के लिये किंचित भी अवकाश नहीं है। सयोगी केवली में सात योग पाये जाते हैं, उपरोक्त पाँच योग सभी केवली और अर्हतों में पाते हैं तथा केवली समुद्घात होने पर केवल ज्ञानी में औदारिक मिश्र और कर्मण काय योग - ये दो और बढ़ जाते हैं। केवल ज्ञानी के आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिकों से जब वेदनीय, नाम एवं गोत्र कर्म की स्थिति और दलिक अधिक होते हैं तब उनको परस्पर में बराबर करने के लिये केवली समुद्घात होता है। जब सिर्फ अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तभी समुद्घात होता है।

समुद्घात में आठ समय लगते हैं। इन आठ समयों में पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग, दूसरे, छठे और सातवें समय में कर्मण के संयोग से औदारिक मिश्रकाय योग तथा तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कर्मण काययोग होता है। अयोगी केवली में योग का सर्वथा अभाव होता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में केवलज्ञानी मन, वचन और काय योग का क्रमशः निरोध कर चौदहवें गुणस्थान में निष्प्रकंप अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, अतः वे निराश्रव, अबंध और अयोगी कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और मिश्रगुणस्थान में तीन अज्ञान और तीन दर्शन - छः उपयोग पाते हैं। इन दोनों में सम्यक्त्व का अभाव है, अतः इन गुणस्थानवर्ती जीवों का ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु कुत्सित ज्ञान है। अज्ञान में नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नहीं किन्तु ज्ञान का जो पात्र मिथ्यात्वी है उसके संसर्ग से वह कुत्सित कहलाता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान कहा है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। जैसे मिथ्यात्व सम्यक्- श्रद्धा का विपर्यय है वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप भेद नहीं किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यक् दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान। इस संदर्भ में श्रीमज्जयाचार्य ने भगवती जोड़ में लिखा है-

भाजन लारे जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहीजिए ।

समदृष्टि रे ज्ञान रे, अज्ञान मिथ्यादृष्टि तणो ॥

सास्वादन सम्यग्दृष्टि, अविरति सम्यग्दृष्टि और देशविरति गुणस्थान में तीन ज्ञान और तीन दर्शन छः उपयोग पाते हैं। सम्यक्त्वी होने से ये सभी ज्ञानी कहलाते हैं। इन गुणस्थानों में अज्ञान नहीं पाते हैं। सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान को छोड़कर छठे से बारहवें गुणस्थान तक चार ज्ञान और तीन दर्शन - सात उपयोग पाते हैं। इन गुणस्थानों में मनः पर्यव ज्ञान की संभाव्यता है। तीर्थकर जब दीक्षा लेते हैं तब उन्हें नियमतः मनः पर्यव ज्ञान उपलब्ध होता है और वह केवल प्राप्ति से पूर्व तक बना रहता है। मनःपर्यव ज्ञान साधना जन्य उपलब्धि है जो मुनि अवस्था और मुनि वेश में ही प्राप्त होती है।

सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में केवल चार ज्ञान प्राप्त होते हैं, दर्शन नहीं। गुणस्थान की प्राप्ति साकार उपयोग में ही होती है। इस गुणस्थान का कालमान अत्यल्प है, अतः अनाकार उपयोग आने से पहले ही गुणस्थान का परिवर्तन हो जाता है। इस कारण से सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में केवल चार ज्ञान ही प्राप्त होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में दो उपयोग पाते हैं- केवल ज्ञान और केवल दर्शन। यह दोनों उपयोग क्षायिक भाव हैं, इसमें शेष सभी उपयोगों का समाहार हो जाता है। महामना आचार्य श्री भिक्षु के शब्दों में चार ज्ञान और तीन

अज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं और वे केवल ज्ञान की बानगी हैं तथा तीन दर्शन क्षायोपशमिक भाव हैं और वे केवल दर्शन की बानगी हैं।

प्रथम छः गुणस्थान तक छहों लेश्या पाई जाती हैं। छठे गुणस्थान तक अशुभयोग की विद्यमानता होने से सभी लेश्याओं का अस्तित्व असंदिग्ध है। सातवें गुणस्थान में तीन शुभ लेश्या पाई जाती हैं। यह अप्रमाद की स्थिति है, अतः इसमें अनारम्भ अवस्था पाई जाती है। इसमें अशुभ योग न होने से अशुभ लेश्या का अभाव है। आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक केवल शुक्ल लेश्या पाई जाती है। इन गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों का क्षय होने से चारित्रिक निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। चौदहवें गुणस्थान में लेश्यातीत अवस्था पाई जाती है। इस चरम गुणस्थान में योग नहीं होने से लेश्या भी नहीं पाई जाती है।

प्रथम तीन गुणस्थान में तीन भाव पाये जाते हैं - औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। क्षायोपशमिक भाव यत्किंचित् आत्म उज्वलता का प्रतीक है, जो संसार के समस्त छद्-मस्थ जीवों में अवश्यमेव पाया जाता है। केवल्य की प्राप्ति होने पर क्षायोपशमिक भाव क्षायिक भाव में परिणत हो जाता है। औदयिक और पारिणामिक भाव सभी गुणस्थानों में पाया जाता है। चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाँचों भाव पाये जाते हैं। इन गुणस्थानों में औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र होने पर औपशमिक भाव तथा क्षायिक सम्यक्त्व होने पर क्षायिक भाव प्रसूत होता है। क्षीणमोह गुणस्थान में औपशमिक भाव को छोड़कर चार भाव पाये जाते हैं। उपशम केवल मोह कर्म का ही होता है - ऐसा अनुयोगद्वार में भगवान ने बताया है। बारहवें गुणस्थान में मोह कर्म का क्षय हो जाता है, अतः इसमें चार भाव ही संभव हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तीन भाव पाये जाते हैं- औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक। क्षायोपशम केवल चार घाति कर्मों का ही होता है, ऐसा अनुयोगद्वार में भगवान ने बताया है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवल चार अघाती कर्म शेष रहते हैं, अतः इसमें तीन भाव ही पाये जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और मिश्र गुणस्थान में ज्ञान और चरित्र आत्मा को छोड़कर छः आत्मा पायी जाती है। ये सम्यक्त्व विरहित गुणस्थान हैं, अतः ज्ञान और चरित्र आत्मा नहीं पाई जाती है। सास्वादन सम्यग् दृष्टि, अविरति सम्यग् दृष्टि और देश विरति गुणस्थान में चारित्र आत्मा को छोड़कर सात आत्मा पायी जाती हैं। पाँचवें गुणस्थान में देश चारित्र होता है किन्तु सर्वचारित्र नहीं, अतः चारित्र आत्मा नहीं होती। पंचम गुणस्थानवर्ती जीव असंख्य हैं तथा प्रज्ञापना सूत्र के अनुसार चारित्र आत्मा वाले जीव संख्यात होते हैं, यह तभी संभव है जब इनमें केवल साधुओं की ही गणना की जाए, इस आगमिक तथ्य से पाँचवें गुणस्थान में चारित्र आत्मा सिद्ध नहीं होती है। छठे से दसवें गुणस्थान तक आठ आत्मा पायी जाती है।

यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक चारित्र आत्मा होती है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में कषाय आत्मा को छोड़कर शेष सात आत्मा पायी जाती है। ग्यारहवें गुणस्थान में मोहकर्म का सर्वथा उपशम हो जाता है तथा बारहवें आदि गुणस्थानों में मोह कर्म का क्षय, अतः इन गुणस्थानों में कषाय आत्मा नहीं पायी जाती है। चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग आत्मा को छोड़कर शेष छः आत्मा पायी जाती है। अयोगी केवली सर्वथा योग मुक्त होते हैं, अतः उनमें योग आत्मा नहीं होती है। संसार के समस्त जीवों में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य - ये पाँच लब्धियाँ पायी जाती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि छद्मस्थ में ये पाँच लब्धियाँ क्षायोपशमिक भाव है और केवली में क्षायिक भाव।

प्रथम चार गुणस्थान में बाल वीर्य पाया जाता है। इन गुणस्थानों में अविरति भाव सदा बना रहता है। ये जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं और संख्या में अनन्तान्त हैं। पाचवें गुणस्थान में बाल पंडित वीर्य पाया जाता है। ये जीव व्रताव्रती या संयमासंयमी होते हैं। ये जीव मनुष्य और तिर्यञ्च - इन दो ही गतियों में पाये जाते हैं और संख्या में असंख्य हैं। छठे से चौदहवें गुणस्थान तक पंडित वीर्य पाया जाता है। ये जीव महाव्रती या संयमी कहलाते हैं। इन गुणस्थानवर्ती जीवों में अविरति भाव समाप्त हो जाता है। ये जीव केवल मनुष्य गति में ही पाये जाते हैं और सदैव संख्याता ही होते हैं। प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्या दृष्टि ही होते हैं। इन जीवों के दर्शन मोहनीय कर्म का उदय सदा चालू रहता है। इसमें तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा बनी रहती है जिसे मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्वी में पायी जाने वाली दृष्टि की विशुद्धि मिथ्यादृष्टि कहलाती है। यह दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम भाव होने से निरवद्य एवं विशुद्ध है।

आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में मिथ्यात्व द्विधात्मक है। नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। दूसरे के उपदेश के बिना मिथ्या दर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव नैसर्गिक मिथ्यात्व है तथा अन्य के निमित्त से होने वाला मिथ्यादर्शन परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व है। तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक् मिथ्या दृष्टि होते हैं। इसमें प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा अधिक उज्वलता होती है। शेष तत्त्वों में यथार्थ विश्वास रखने वाले की दृष्टि सम्यक् मिथ्यादृष्टि होती है। प्रथम और तृतीय गुणस्थान को छोड़कर शेष बारह गुणस्थानवर्ती जीवों की दृष्टि सम्यक् होती है। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति होती है। सास्वादन, वेदक और क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि क्षयोपशमजन्य है तथा औपशमिक दृष्टि उपशमजन्य है।

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के होते हैं, शेष गुणस्थानवर्ती केवल भव्य ही होते हैं। यह भव्य जीव एक निश्चित काल में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। प्रथम गुणस्थानवर्ती भव्य जीव मोक्षगामी और अमोक्षगामी दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रथम गुणस्थान सभी दण्डकों में पाया जाता है। द्वितीय गुणस्थान स्थावर काय को छोड़कर शेष उन्नीस दण्डकों में पाया जाता है। पाँच स्थावर काय जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, अतः वे केवल प्रथम गुणस्थानवर्ती ही होते हैं। तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान पाँच स्थावर काय और तीन विकलेन्द्रिय को छोड़कर शेष सोलह दण्डकों में पाया जाता है। तीन विकलेन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्था में कदाचित् सास्वादन सम्यक्दृष्टि हो सकते हैं किन्तु पर्याप्त अवस्था में मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। पंचम गुणस्थान में केवल दो दण्डक ही पाये जाते हैं—बीसवां तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का और इक्कीसवां मनुष्य पंचेन्द्रिय का। श्रावकत्व इन दो दण्डकों में ही पाया जाता है। श्रावक देशव्रताराधक और संवर धर्म का साधक होता है। यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि तिर्यञ्च श्रावक असंख्याता और मनुष्य श्रावक संख्याता होते हैं। छठे आदि सभी गुणस्थानों में केवल एक ही दण्डक पाया जाता है—इक्कीसवां मनुष्य पंचेन्द्रिय का। श्रमण निर्ग्रन्थ की साधना केवल मनुष्य ही कर पाते हैं। आत्मा से परमात्मा बनने का अद्भुत सामर्थ्य केवल मनुष्य में ही होता है। इन्हीं गुणस्थानवर्ती मनुष्य परमेष्ठी कहलाते हैं।

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव कृष्ण पक्षी और शुक्ल पक्षी होते हैं, शेष तेरह गुणस्थानवर्ती जीव केवल शुक्लपक्षी होते हैं। कृष्ण पक्षी शुक्ल पक्षी कैसे बन जाता है? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। सच्चाई यह है कि शुक्ल पक्षी बनने में किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं है। जब जीव के मुक्त होने में अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रह जाता है तो वह शुक्ल पक्षी बन जाता है। यहाँ यह जानना चाहिए कि जीव सम्यक्त्वी और परित संसारी विशेष संयोग मिलने पर होता है किन्तु शुक्ल पक्षी अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि मरूदेवी अव्यवहार राशि में ही शुक्ल पक्षी बन गई थी। सम्यक्त्व उन्होंने बाद में प्राप्त की। जिस दिन से उसके अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहा था, उसी दिन ही वे शुक्ल पक्षी बन गई थी।

सम्पर्क

जैन विश्व भारती

लाडनूँ - 341 306

(राजस्थान)

सकारात्मक सुख की ओर

-समणी सत्यप्रज्ञा

हर प्राणी सुख चाहता है। अधिकतम सुख पाने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है और इसके लिए विविध रीतियों का प्रयोग करता है। सुख के संसाधनों पर ध्यान दें तो दो प्रमुख रूप हमारे सामने आते हैं- प्राकृतिक संसाधन और मानव संसाधन।

मानव के सुखवादी एवं सुविधावादी दृष्टिकोण ने प्राकृतिक संसाधनों के साथ खिलवाड़ कर पदार्थवाद का प्रासाद खड़ा किया है। प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। जितनी इच्छाएं हैं, उतना ही व्यक्ति उपभोग कर सके, यह संभव नहीं। इसीलिए तर्कसंगत सुझाव है कि संसाधनों का अनावश्यक प्रयोग न किया जाए। यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्री अधिकतम उत्पादन की बात कहते हैं जो स्पष्टतः संसाधनों के भी अधिकतम प्रयोग से जुड़ी हुई है। विवेकपूर्ण अर्थशास्त्र के संदर्भ में हमें कम से कम उत्पादन की आवश्यकता पर ध्यान देना अपेक्षित है।

परिग्रह की परिक्रमा करता हुआ मानव उत्पादन वृद्धि के भ्रमजाल में है। पर इसके अन्य पहलुओं पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। शूंपीटर इसे रचनात्मक विनाश की संज्ञा देते हैं। रचनात्मक विनाश वह मूलभूत आवेग है जो पूँजीवादी इंजन को चालू करता है और उसे गतिशील रखता है। वह नए उत्पादों, उत्पादन या परिवहन के नए तरीकों, नए बाजारों या पूँजीवादी उद्यम द्वारा निर्मित औद्योगिक संगठन के नए रूप आदि से प्राप्त होता है। ये औद्योगिक परिवर्तन की उसी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं जो आर्थिक संरचना में निरन्तर अंदर से क्रान्ति लाता है, निरन्तर पुरानी संरचना को नष्ट करते हुए नए का निर्माण करता है। रचनात्मक विनाश की यह प्रक्रिया पूँजीवाद के बारे में अनिवार्य तथ्य है।

उत्पादन और उपभोग की रफ्तार पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट है- मनुष्य के पास प्रतिदिन के केवल चौबीस ही घंटे हैं और इनमें वह सीमित उपभोग ही कर

सकता है। एक समय जब हम एक चीज का उपभोग कर रहे हैं, उसी समय दूसरे का नहीं कर सकते। हाँ, यदि हम किसी समय कुछ भी उपभोग न कर रहे हैं तो निश्चित रूप से हम सामग्री को बढ़ा लेते हैं। लेकिन इच्छाओं पर किसी पूर्ण विराम की बात सहज नहीं। प्राकृतिक संसाधनों से सुख पाने की लालसा, उनका अधिकतम संग्रह एवं उपभोग ने प्रकृति को असंतुलित किया है, पर्यावरण से जुड़ी अनेक समस्याएं इसका परिणाम है।

आज विवेकशील अर्थशास्त्रियों का ध्यान इस ओर जाने लगा है कि उपभोग के आधार पर उत्पादन को बढ़ा देने की बात वैसी ही है मानों पूंछ कुत्ते को हिला रही है।^१

इंडियन एक्सप्रेस में छपे एक लेख में शेखर गुप्ता लिखते हैं- “quit the pretence, the economy is on the wrong track” ढोंग छोड़ो, अर्थ व्यवस्था गलत राह पर है।^१ एक ओर हम लोग भारतीय अर्थ व्यवस्था को विश्व में उच्चतम विकास दर दर्शाने वाली अर्थव्यवस्था में से एक के रूप में देखते हैं। भारत के नए प्रौद्योगिकी उद्यमी सबसे नव प्रवर्तक और सफल लोगों में गिने जाते हैं। साथ ही भारत के प्रबंधक वित्त व व्यवस्था परामर्श की दुनिया में उच्चतम स्थान प्राप्त कर चुके हैं और दूसरी ओर, भारत की सार्वजनिक व सामाजिक सेवाएं विश्व की बदतर सेवाओं में गिनी जाती हैं। भारत की मूलभूत संरचना, चाहे वह सड़क हो या बिजली, समस्याओं से भरपूर है। भारत के अच्छे और बुरे-दोनों ओर के सैकड़ों उदाहरण हैं। हम किस दिशा में जा रहे हैं?

इस संदर्भ में सफलता और विफलता के कारणों का निष्पक्ष विश्लेषण आज और आने वाले कल की दुनिया में भारत के स्वरूप को उजागर कर सकता है।^१ लेकिन आज व्यक्ति की शक्ति अपने अहंकार और सुख सुविधा की दिशा में लगी है।^१ इसका निश्चित परिणाम प्राकृतिक संसाधनों का अभाव ही आना है।

सुख का दूसरा संसाधन मनुष्य स्वयं है। वस्तु और विचार का अनाग्रह, अपरिग्रह इसका फलित है।

असीम क्षमता, आनन्द और ऊर्जा को स्रोत व्यक्ति के भीतर निहित हैं। अपनी अपरिमित शक्तियों और संभावनाओं से अनजान रह कर व्यक्ति यदि दुःख का जीवन जीता है तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा।

Oliver wendell Holmes कहते हैं - The biggest tragedy in America is not the great waste of natural resources, though this is tragic. The biggest tragedy is the waste of human resources. The average goes to grave with his music still in him.⁶

प्राकृतिक संसाधनों के अपव्यय से भी ज्यादा दुःखद तथ्य मानव संसाधनों का, मानवीय शक्तियों का निरर्थक चले जाना है। प्राकृतिक संसाधनों के साथ जुड़ी सच्चाई यह है कि जितना-जितना इनका प्रयोग किया जाएगा, उतना-उतना इसका अभाव होते चला जाएगा और इस अभाव से जो परिणाम आएगा, आने वाली पीढ़ियां पूछेगी- हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए क्या छोड़ा? एक ओर भूख ही भूख होगी, एक ओर करुणा ही करुणा, और दोनों के बीच कोई पुल न होगा।

प्रयोग के संदर्भ में मानव-संसाधन की स्थिति इससे ठीक विपरीत है। अधिकतम प्रयोग किए जाने से प्राकृतिक संसाधन समाप्ति के दौर की ओर है। प्रयोग न किए जाने से मानव-संसाधन समाप्ति की ओर है।

Zig Ziglar का मानना है- Your natural resources, unlike the natural resources on planet earth, will be wasted and "used up" only if they are never used at all.⁷

अपने भीतर के अमृत स्रोत से अपरिचित व्यक्ति प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धि एवं उपभोग से ही सुख मान प्रकृति का दोहन करता जा रहा है।

इस सुख-संपूर्ति से जुड़ा विकास ही आज के चिंतन से विकास का मानदण्ड बन रहा है। लेकिन आज की सोच को समाधान की दिशा देने वाले आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी का कथन है- सुख के दो रूप हैं- नकारात्मक सुख और सकारात्मक सुख।

उनके अनुसार धन नकारात्मक सुख का साधन है। इसे परोक्ष सुख भी कहा जा सकता है। जैसे किसी के पास रहने को मकान नहीं हैं तो अभाव का एक तनाव उसे सता रहा है। धन मिला और मकान हो गया तो मकान के अभाव से होने वाला एक तनाव समाप्त हो गया। यह सुख लगता है। किसी भी अभाव की आपूर्ति से होने वाला सुख नकारात्मक सुख है। अभावजनित दुःख की समाप्ति से होने वाला सुख परोक्ष या नकारात्मक है। इसका हेतु यह है कि जैसे ही एक अभाव की समाप्ति होती है, वैसे ही कई नए अभाव सामने आ जाते हैं। एक आकांक्षा की संपूर्ति के साथ ही कई नई आकांक्षाएं जन्म ले लेती हैं। हर अभाव किसी न किसी आकांक्षा से जुड़ा हुआ है। रोटी मिली, उदरपूर्ति के साथ ही उससे आगे की आकांक्षा फिर जाग जाती है और उस आकांक्षा के तनाव में आदमी और ज्यादा दुःखी हो जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार वास्तविक सुख आवेश की शांति से होने वाला सुख है। आकांक्षा की शांति होने वाला सुख सकारात्मक सुख है, यह भीतर का सुख है। इसमें किसी तरह की प्रतिबद्धता, प्रतिस्पर्धा या परनिर्भरता नहीं है। भीतर के तनाव, आवेश आदि की मुक्ति से ही यह वास्तविक सुख, प्रत्यक्ष सुख हासिल किया जा सकता है। यह सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष सुख है।

अपेक्षा से जुड़े हर सुख का दूसरा पहलू दुःख, उसके साथ जुड़ा हुआ है। शाश्वत, निरपेक्ष या अनाबाध सुख की कल्पना भी वहां नहीं की जा सकती। नकारात्मक सुख को स्पष्ट करने वाला है शेखसादी का यह कथन- “मैंने सुना कि एक बुजुर्ग ने एक बकरी को भेड़िए के पंजे से छुड़ा लिया। रात को उसके गले पर छुरी फेर दी। बकरी कहने लगी- एक जालिम! भेड़िए के पंजे से तूने मुझे छुड़ा लिया पर जब गौर किया तो मेरी समझ में आया- तू खुद भेड़िया था।”

जैन दर्शन इन्द्रिय विषय की आपूर्ति से होने वाले सुख की तुलना किंपाक फल से करता है। किंपाक फल खाने में तो स्वादिष्ट लेकिन परिणाम में मृत्युदायी है। दीर्घकालिक चिंतन करने वाला व्यक्ति कभी आपात्भद्र में नहीं उलझता। वह परिणामदर्शन करता है, परिणामभद्र की कामना करता है। वास्तविक सुख के अवबोध से अनजान व्यक्ति ही पदार्थ आवश्यकता, उत्पादन और मांग की आपूर्ति की दिशा में दौड़ता है।

यद्यपि आज का अर्थशास्त्र भी उत्पादन आपूर्ति के साथ जुड़े सुख के भ्रमजाल व अपनी अपर्याप्तता से अनजान नहीं। परिणाम दर्शन के साथ कई समस्याओं का सामना भी वह कर रहा है।

उत्पादन क्या, कैसे और किसके लिए के साथ ही कुछ और प्रश्न भी जुड़े हैं। यदि कहें, जो भी उत्पादन किया जा रहा है- समाज और व्यक्ति के लिए किया जा रहा है तो क्या व्यक्ति और समाज के अतिरिक्त किसी का कोई महत्त्व नहीं? क्या आज के व्यक्ति और समाज के आने वाले कल के लिए कोई जिम्मेवारी नहीं?

असीमित इच्छाओं की बात भी कहां तक सही हो सकती है? एक बार खाना खाया और पेट भर गया तो क्या हम उसी समय फिर खाने की इच्छा करेंगे? कदापि नहीं। बहुत अधिक भी उतना ही बुरा है जितना बहुत कम। अर्थसंग्रह में संदर्भ में भी अनंत इच्छा, असीमित लोभ रखने की क्या औचित्यतता! विनोबा भावे का अभिमत इस संदर्भ में आदरणीय है- ‘फुटबाल की तरह धन का खेल होना चाहिए। फुटबाल को कोई अपने पास नहीं रखता। वह जिसके पास पहुंचती है, वही उसे फैंक देता है। पैसे को इसी तरह आगे बढ़ाते जाइए तो समाज में उसका प्रवाह बहता रहेगा और समाज का आरोग्य कायम रहेगा।’

इच्छाओं और आवश्यकताओं के साथ उत्पादन वृद्धि की बात को जोड़ा जाता है। लेकिन क्या वस्तु-आपूर्ति ही मात्र इच्छा है? वस्तुओं से संबंधित चाह के कई तरीके हो जाते हैं। चाह का अर्थ है- उसे अपने लिए विनियोजित करना चाहता हूँ। चाह, उसे देखने या उससे आनन्दित होने की नहीं, बल्कि उसका वरण एक सम्पत्ति के रूप में करने की है। वस्तुओं का धारण व्यामोह बन जाता है जब हम वस्तु के स्वामित्व से उसके साथ एकात्मियता

की उपलब्धि करते हैं और अपने आप का विलयन वस्तु में कर देते हैं। इस भूमिका में वस्तुएं सर्जक की तरह प्रतीत होती हैं और आदमी का निर्माण करने लगती हैं। व्यामोह में फंसी चेतना व्यक्ति से ऊपर वस्तु को प्राथमिकता देने लगती है।⁹

संसाधनों की स्वल्पता की बात भी सदा सच नहीं। चोंच के साथ चुगो की व्यवस्था प्रकृति में सबके लिए है। लेकिन उपभोक्ता संस्कृति ने आदमी को एक चीज की तरह खरीदना और बेचना शुरू कर दिया। इच्छा रूपी आकाश के सामने तो सारे प्राकृतिक संसाधन बौने नजर आते हैं। यही स्वल्पता प्रत्येक मानवीय संबंध की जड़ता का अमूर्त एवं मौलिक आधार है। मानवीय घटनाओं के बीच जब वस्तु स्वल्पता अवस्थित होती है तब वह प्रत्येक प्रकार की हिंसा, शोषण एवं अमंगल का स्रोत हो जाती है। हम जिस जमीन पर खड़े हैं वह किसी और की जमीन भी हो सकती है। हम जिस रोटी को खा रहे हैं वह जाने-अनजाने बहुतों की भूख के लिए होती है। एक की जरूरत की परितुष्टि अनभिप्रेत रूप से दूसरों के लिए एक धमकी है। वस्तुओं की स्वल्पता से बहुसंख्यक व्यक्तियों का व्यावहारिक जगत पारस्परिक संबंधों का एक निषेधात्मक जगत हो जाता है।¹⁰ इस निषेधात्मक जगत में जीने वाला व्यक्ति कभी अबाधित सुख का अधिकारी नहीं हो सकता। इच्छाओं की संतुष्टि की बात भी कभी संभव नहीं। Theory of wantness के जनक J.K. Mehta स्वीकार करते हैं—एक इच्छा की आपूर्ति के साथ ही अन्य अनेक इच्छाएं उद्भूत हो जाती हैं। इस तरह एक इच्छा की आपूर्ति व्यक्ति को सुखी बनाने के बजाय दुःखी बना देती है। इसीलिए दुःख को न्यून करने के लिए इच्छा परिसीमन के सिद्धान्त का आज सर्वाधिक महत्त्व है। वैश्वीकरण के दौर से गुजरने के बाद उसका परिणाम देख समाजशास्त्री भी कहने लगे हैं—मिताहारिता का सिद्धान्त अर्थात् न्यूनतम वस्तुओं का ग्रहण और स्वैच्छिक सादगी या संयम से ही सुखद भविष्य को आरक्षित किया जा सकता है।

भगवान महावीर ने 25 सौ वर्ष पहले इस संदर्भ में इच्छा-परिमाण या अपरिग्रह का सिद्धान्त दिया। अर्थशास्त्री फ्रेजर का अभिमत है— जो अर्थशास्त्री अर्थशास्त्री मात्र है वह कि तुच्छ सुन्दर मछली के समान है।¹¹ भारतीय विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी नीति पंडित नेहरू की दूरदर्शिता से बहुत प्रभावित हुई। अपनी भावना व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा— राजनीति ने मुझे अर्थशास्त्र की ओर प्रेरित किया और इसने अनिवार्य रूप से मुझे विज्ञान और हमारी सभी समस्याओं तथा स्वयं जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि की ओर प्रेरित किया।¹² अर्थशास्त्री पीगू कहते हैं— अर्थशास्त्र का अध्ययन कोरे दार्शनिक की भावना से नहीं अपितु चिकित्सक की भावना से किया जाना चाहिए।¹³ अर्थशास्त्री एली ने लिखा— अर्थशास्त्र विज्ञान से कहीं बढ़कर, एक ऐसा शास्त्र है जो मानव जीवन के अनेक रूपों में व्यक्त है। इसके लिए केवल क्रमानुसार विचार ही नहीं वरन मानवीय सहानुभूति, कल्पना तथा असाधारण मात्रा में ज्ञान का

संचित अनुग्रह भी आवश्यक है।¹⁴ मार्शल अर्थशास्त्र को वास्तविक तथा आदर्श विज्ञान दोनों मानते हैं। हाट्रे (Haurtrey), जो मार्शल के प्रबल समर्थक हैं, कहते हैं— अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् नहीं किया जा सकता।¹⁵ लगभग सभी अर्थशास्त्री इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि संसाधनों के इस्तेमाल में सक्षमता और अर्थव्यवस्था में विकास-प्रदर्शन को सुधारने की आवश्यकता है।

सुधार की इस प्रक्रिया में स्थायी समाधान की बुनियाद प्रस्तुत करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— 'आज अपेक्षा है— अर्थशास्त्री अध्यात्म शास्त्र पढ़ें और अध्यात्मवादी अर्थशास्त्र पढ़ें। केवल अर्थशास्त्र अमीरी की समस्या पैदा करेगा, केवल अध्यात्म शास्त्र समाज के लिए काम्य नहीं हो सकता। अमीरी की समस्या से मुक्ति पाने के लिए जरूरी है संयम प्रधान जीवन-शैली का प्रशिक्षण। गरीबी की समस्या से मुक्ति पाने के लिए जरूरी है संविभाग की चेतना का प्रशिक्षण।'¹⁶ संतुलित विकास का चतुष्कोण है—

1. आर्थिक व पदार्थ का विकास।
2. पर्यावरण की चेतना का विकास।
3. नैतिक मूल्यों का विकास।
4. आध्यात्मिक चेतना का विकास।¹⁷

ग्रंथ और पंथ निकल कर धर्म बाजार में आए :- इस विचार पर बल देते हुए आचार्य महाप्रज्ञ स्वस्थ वर्तमान व सुरक्षित भविष्य की राह दिखाते हैं। अध्यात्म से भावित अर्थ ही उपयोगी हो सकता है। जहाँ भाव आध्यात्मिक नहीं होता और दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं होता, वहाँ अनर्थ की संभावना बनी रहती है। आध्यात्मिक होना इसीलिए भी जरूरी है कि प्रत्येक आदमी अपने आप पर कंट्रोल कर सके, अपनी शक्तियों को पहचान सके और अपने निरीक्षण के द्वारा दूसरों के साथ संवेदनापूर्ण व्यवहार कर सके।¹⁸ जो व्यक्ति इच्छा का विवेक करना नहीं जानता, इच्छा की काट-छांट करना नहीं जानता, वह कभी स्वाधीन और स्वतंत्र नहीं बन सकता। स्वतंत्रता के लिए जरूरी है इच्छाओं का विवेक करें।¹⁹ जो उपलब्ध कान्त और प्रिय भोगों को भी स्वाधीनता पूर्वक छोड़ देता है, वही वस्तुतः त्यागी, संयमी और अपरिग्रही है।

इच्छा विवेक के साथ चलता व्यक्ति अपने भीतर निहित संभावनाओं व शक्तियों का भी परिचय पा जाता है। आत्मनिहित ऐश्वर्य का परिचय पा जाने के बाद विषय-सुख, पदार्थ का आकर्षण स्वतः छूटता चला जाता है। कहा गया—

**'जितनी-जितनी छूटती जाएगी आकर्षण की सीढ़ियां।
उतना ही याद करेगी आने वाली पीढ़ियां ॥'**

सुख का सबसे बड़ा संसाधन मानव स्वयं ही है। अपने भीतर से उभरता सुख सकारात्मक सुख है, निरपेक्ष सुख है, प्रत्यक्ष सुख है, अबाधित सुख है, इसके आगे कहीं कोई

व्यास नहीं। इसका कोई प्रतिपक्ष नहीं। आन्तरिक विकास, ध्यान, श्रद्धा आदि किसी भी माध्यम से इस अन्तर्निहित सुख का साक्षात्कार किया जा सकता है। साक्षात्कार के साथ ही उस सुख के साथ तादात्म्य स्थापित कर जीवन पर्यंत सुखी रहा जा सकता है²⁰ आदमी अपने आपको देखकर आनंद का जीवन जी सकता है। आन्तरिक शक्ति और आनन्द की पहचान के साथ ही प्राप्तव्य हासिल हो जाता है, आगे और कोई व्यास को वहां अवकाश नहीं। जब भीतर के स्पंदन जागते हैं तब एक ऐसा प्रसाद बरसने लगता है कि व्यक्ति अपूर्व आनंद की स्थिति में चला जाता है। यह आनन्द ही सकारात्मक सुख, मानव-संसाधन का परिचायक और प्रकृति का संरक्षक है। अर्थशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की समानान्तर चलती राह व्यक्ति को नई दिशा, विश्व को नई आशा दे सकती है। सकारात्मक सुख की ओर एक कदम उठे, मंजिल सामने ही है।

संदर्भ सूची -

- | | |
|---|---|
| 1. जे. शंपीटर- केपिटलिज्म शोसलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी प्र. 129-130 | 10. वही, पृ. 92 |
| 2. Economics and passion- | 11. व्यष्टि अर्थशास्त्र पृ. 12 |
| 3. इंडियन एक्सप्रेस-मुंबई, 11 नवम्बर 2002 | 12. Nehru. the first sixty years. vol. 1 page 550 |
| 4. 21वीं शताब्दी में अर्थशास्त्र की भूमिका, विमल जालान | 13. व्यष्टि अर्थशास्त्र पृ. 13 |
| 5. युगीन समस्या और अहिंसा, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 5 | 14. वही, पृ. 13 |
| 6. See you at the top P. 29-30 | 15. वही. पृ. 15 |
| 7. वही पृ. 30 | 16. युगीन समस्या और अहिंसा, पृ. 14 |
| 8. गुलिस्तां -शेखसादी | 17. वही, पृ. 155 |
| 9. शब्दों का मसीहा-सार्त्र- पृ. 92 | 18. धर्म मुझे क्या देगा, पृ. 100 |
| | 19. वही, पृ. 108 |
| | 20. आचार्य महाप्रज्ञ वक्तव्य |

सम्पर्क

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ (राजस्थान)

जैन-धर्म का मनोवैज्ञानिक पक्ष

डॉ. शान्ता जैन

जैन-धर्म दर्शन का अथाह समुद्र है। यद्यपि दर्शन अनिर्णीत विषयों का भण्डार होता है, फिर भी जब धर्म को विज्ञान के सन्दर्भ में पढ़ा जाये तो मनोविज्ञान स्वतः ही उस धर्म-दर्शन की व्याख्या बन जाता है। जैन मनोविज्ञान की इस चिन्तन-यात्रा में अनेक ऐसे पड़ाव हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक स्तर पर समझा जा सकता है।

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नोकर्म की त्रिपुटी है। मानसिक विश्लेषण इन तीनों पर आधारित है। जैन दृष्टि से मन स्वतंत्र पदार्थ नहीं, वह आत्मा का ही विशेष रूप है। मन की प्रवृत्ति कर्म, नोकर्म सापेक्ष है। अतः मनोविज्ञान के सन्दर्भ में इन्हें समझना आवश्यक है।

आत्मा- चैतन्य गुण सम्पन्न है।¹ चैतन्य की दृष्टि से सब समान होते हुए भी विकास क्रम समान नहीं।² इस तारतम्यता का कारण है कर्म।³ कर्म-आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्य पुद्गला कर्मः।⁴ आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने वाले पुद्गल कर्म हैं। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ जैसे प्राणियों को प्रभावित करता है वैसे ही कर्म विपाक प्राणियों को प्रभावित करता है। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल सापेक्ष होता है वैसे ही कर्म नोकर्म सापेक्ष होता है।

नोकर्म- सहायक सामग्री कर्मविपाक की⁵ कर्म प्राणियों को फल देने में सक्षम होते हुए भी उनकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अवस्था, जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि बाहरी परिस्थितियों की अपेक्षाओं से जुड़ी रहती हैं।⁶

जैन-धर्म में आत्मा अस्तित्व Pure consciousness के रूप में स्वीकार है। कर्म पुद्गलों से सम्पृक्त आत्मा का विश्लेषण उसी रूप में है, जैसा कि मनोविज्ञान में Self का। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है- उपयोग लक्षणों जीवः? - उपयोग आत्मा का लक्षण है। चेतना इसका नैश्चयिक गुण है। ज्ञान-दर्शन युक्त

चेतना को शास्त्रों में उपयोग कहा गया है। Medougall इसके लिए horne शब्द का प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान में चेतना के तीन स्तर हैं— 1. The cognitive ज्ञान, 2. The conative संकल्प, 3. The affective अनुभूति।

जैन ग्रन्थों में भी मनोविज्ञान सम्मत लक्षणों को देखा जा सकता है किन्तु 'आचारांग' में ज्ञानात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया है, क्योंकि अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में कभी समाधि संभव नहीं। जब तक सुख दुःखानुभूति है अथवा संकल्प-विकल्पों का चक्र गतिशील है, चेतना परभाव में स्थित रहती है। अतः ज्ञाताभाव आत्मा का स्वरूप है।

'आचारांग' सूत्र में लिखा है- 'जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया⁸— जो आत्मा है, वह जानता है, जो जानता है, वह आत्मा है। भगवती सूत्र में भी 'णाणे पुण णियमं आया' का उल्लेख है। वस्तुतः ज्ञान मंजिल का दिशायंत्र है, अज्ञान मंजिल का भटकाव। ज्ञानाभाव में आत्मा अनावृत्त नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञान की खूंटि पर ही रागद्वेषात्मक अनुभूतियों के संस्कार लटकते रहते हैं। कर्मबन्ध होती है और प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म-मरण की परम्परा आगे बढ़ती है।

बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्त की तो यही पाया कि वह विशाल भवन जिसमें वे अनन्त जन्मों तक भटके थे, मात्र अपरिज्ञा थी। महावीर ने जिसे मोहनीय कर्म का खेल माना था। इसलिए चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष विशेष उल्लेखनीय है।

चैतन्य के तीन स्तर हैं- जानना, देखना और अनुभव करना। जैन शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान के दो साधन हैं- इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय-जिनके द्वारा नियत विषयों का ज्ञान होता है।⁹ मन-जिसके द्वारा सब विषयों का ग्रहण किया जाता है और जो त्रैकालिक संज्ञा¹⁰ है। इन्द्रियों के पांच प्रकार वर्णित हैं- स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत¹¹। प्रत्येक इन्द्रिय के दो भेद हैं- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। शारीरिक रचना द्रव्येन्द्रिय- जिसके निवृत्ति एवं उपकरण दो प्रकार हैं। मानसिक कार्य भावेन्द्रिय, जिसके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। द्रव्येन्द्रिय की तुलना आधुनिक मनोविज्ञान के Sense organs से की जा सकती है। लब्धि specific sense experience की अभिव्यक्ति है और उपयोग-मानसिक शक्ति है जो specific experience को निर्धारित करती है। जैन ग्रन्थों में ज्ञानोपलब्धि का विकास क्रम मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है-

- (1) अवग्रह- The stage of sensaggtion,
- (2) ईहा - The stage of associativie integration,
- (3) अवाय- Perceptual judgment
- (4) धारणा-Retention ¹²

धारणा में ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्मृति का कारण बनता है। इसीलिए कहा भी गया है- “स्मृतिहेतुधारणा।” धारणा के तीन प्रकार हैं-

- (1) अविच्युति,
- (2) वासना,
- (3) स्मृति।

डॉ. कलघाटगी (Kalghatgi) ने स्मृति की दो Conditions बतलाई हैं —

- (1) The external conditions Consisting of the environmental factors,
- (2) Internal conditions connected with the conative urge. जैन धर्म की स्मृतिपरक व्याख्या से हम The laws of association in psychology से तथा आन्तरिक स्मृति की Mcdougall के View of Memory से काफी हद तक तुलना कर सकते हैं।

ज्ञान के पांच प्रकार जैन ग्रन्थों में वर्णित हैं। इन्द्रिय और मन के द्वारा ज्ञेय को जानने की क्षमता मतिज्ञान¹³ और श्रुतज्ञान¹⁴ कहलाती है। यह परोक्ष ज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मूर्त ज्ञेय को जानने की क्षमता अवधि¹⁵ एवं मनः पर्यवज्ञान¹⁶ कहलाती है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान Supernormal experience है। मनः पर्यवज्ञान- मानसिक अवस्थाओं का सूक्ष्म ज्ञान करता है। इसकी तुलना Telepathy से की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक McDaugull के शब्दों में 'extra sensory percetion like clairvoyance and telepathy seems also in fair way established.' जैन धर्म का सूक्ष्मतम विश्लेषण प्रस्तुत कहता है।

प्रमाण मीमांसा में कहा गया है- 'सर्वार्थग्रहणं मनः'¹⁷। मन एक सूक्ष्म इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों का ग्रहण करता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसे quasi-sense organ नोइन्द्रिय भी कहा है। 'भगवती' में 'मणिज्जमाणे मणे' कहा है। मनन के समय ही मन होता है। यद्यपि यह परिभाषा स्वरूप दृष्टि से सही है पर विषयवस्तु की दृष्टि से उसका मनन वार्तमानिक, स्मरण अतीतकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, संज्ञा उभयकालिक, चिन्ता-अभिनबोध और शब्दज्ञान त्रैकालिक होता है। मन के दो भेद हैं —

- (1) द्रव्य मन Material Phase,
- (2) भाव मन Psychic,

द्रव्य मन पौद्गलिक है और भाव मन लब्धि और उपयोग रूप है। C.D. Broad ने मन के शारीरिक एवं मानसिक factor माने हैं। इसी प्रकार Mcdougall ने भी Mental structure and mental activity के facts में अन्तर माना है। जैन धर्म का मनोवैज्ञानिक पक्ष अध्यात्म के मन के विश्लेषण पर विशेष ध्यान देता है।

अस्तित्व बोध :

मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है- अस्तित्व का बोध। 'आचारांग' में प्रथम प्रश्न अस्तित्व-बोध के विषय में ही उभरा-“इस जीवन से पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं या इस जीवन के बाद मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के बाद क्या होऊँगा?”¹⁸ मनुष्य की मूलभूत जिज्ञासा है- स्वसत्ता जिस पर धार्मिक व नैतिक विकास आधारित है। धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप की सारी मान्यतायें अस्तित्व की धारणा पर खड़ी हैं। इसलिए कहा गया कि जो स्वसत्ता को जानता है, वह आत्मवादी, लोकवादी, क्रियावादी और कर्मवादी है।¹⁹

मनोविज्ञान मन के दो स्तर मानता है- चेतन और अचेतन। चेतन मन के स्तर पर घटित होने वाली समस्त घटनायें, आचरण, व्यवहार, अचेतन मन का प्रतिबिम्ब होता है। यह बात हजारों वर्ष पहले भगवान महावीर ने कह दी थी कि 'अणोग चित्ते खलु अयं पुरिसे' मनुष्य अनेक चित्त वाला है। हर घटना के साथ उसके रूप बदलते हैं। दमित इच्छाएँ अचेतन मन में चली जाती हैं, जब वे जागती हैं तो विविध रूपों में व्यक्त होती हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि पूर्वार्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देते हैं, तब स्थूल मन उससे प्रभावित होता है और वह उसके अनुसार ही आचरण करने लग जाता है।

प्रश्न उभरता है कि सामाजिक प्रतिबद्धताओं, अवधारणाओं और नियमों में प्रतिबद्ध एक सच्चरित्र आदमी कभी-कभी बाह्य स्तर पर क्यों अकल्पित काम कर बैठता है? फ्रायड के शब्दों में मनोवैज्ञानिक स्तर पर उत्तर है- 'काम'। आगम की भाषा में उत्तर है- 'कम्मणा जायए'। प्रत्येक आचरण के पीछे कर्म की प्रेरणा रहती है। सभी आचरणों का स्रोत है- 'कर्म' और कर्म का सेतुबन्ध है— राग और द्वेष। 'आचारांग' में आसक्ति को ही कर्म का प्रेरक तत्त्व कहा है।²⁰ वस्तुतः कामभोगों के प्रति आसक्ति से ही कर्मबन्ध होता है। 'उत्तराध्ययन' में कहा है-

कामाणुगिद्विष्यभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

जं काइयं माणसियं च किंची, तस्सऽन्तंग गच्छई वीयरागो ॥²¹

देवताओं सहित सर्वलोक के जो कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे कामभोगों की आसक्ति से उत्पन्न हैं। विषय भोग के प्रति आसक्ति समस्त पीड़ाओं की जननी है। आत्मनिष्ठ मनोविज्ञान की प्रस्तुति हुई है भगवान महावीर के शब्दों में -हे धीर पुरुष! विषयभोगों की आकांक्षा और तत्सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों का त्याग करो। तुम स्वयं इस कांटे को अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो।²²

हमारे जितने आचरण, प्रवृत्तियाँ, वैभाविक प्रतिक्रियायें हैं, उन सबके पीछे मूलवृत्तियाँ

सक्रिय हैं, जिन्हें जैन-धर्म में 'संज्ञा' कहते हैं। आगमों में चेतनापरक संज्ञा (सण्णा) शब्द व्यवहार के प्रेरक तथ्यों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। संज्ञा शारीरिक आवश्यकताओं व भावों की मानसिक संचेतना है, जो परवर्ती व्यवहार की प्रेरक बनती है। किसी सीमा तक जैन 'संज्ञा' शब्द को मूलप्रवृत्ति के समानार्थक माना जा सकता है।

संज्ञाओं का वर्गीकरण :-

मनोविज्ञान में सामान्यतः चौदह संज्ञायें मान्य हैं-

- (1) पलायन, (2) युयुत्सा, (3) जिज्ञासा, (4) आक्रामकता, (5) आत्मगौरव,
- (6) आत्महीनता, (7) मातृत्व की संप्रेरणा (पुत्रैषणा), (8) समूह-भावना,
- (9) संग्रह वृत्ति, (10) रचनात्मक, (11) भोजनान्वेषण, (12) काम,
- (13) शरणागति, (14) हास्य।

जैनागमों में संज्ञाओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। मुख्यतः तीन वर्गीकरण हैं-

- (अ) 1. आहार, 2. भय, 3. परिग्रह, 4. मैथुनसंज्ञा।
- (ब) 1. आहार, 2. भय, 3. परिग्रह, 4. मैथुन, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9. ओष संज्ञा ¹³
- (स) 1. आहार, 2. भय, 3. परिग्रह 4. मैथुन, 5. सुख, 6. दुःख, 7. मोह, 8. क्रोध 10. मान, 11. माया, 12. लोभ, 13. शोक, 14. लोक, 15. धर्म, 16. ओष ¹⁴

उपर्युक्त वर्गीकरण में प्रथम वर्गीकरण मात्र शारीरिक विवेचन प्रस्तुत करता है जबकि दूसरा और तीसरा शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक प्रेरकों को भी समाविष्ट करता है। इनमें क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद - कषाय और नो कषाय की संज्ञाओं का भी प्रतिनिधित्व है। सारी संज्ञायें कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। जैन दृष्टि से आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। वह श्रद्धा और चरित्र को विकृत करता है। इसके दो भेद हैं- 1. दर्शन मोहनीय, 2. चारित्र मोहनीय ¹⁵ कषाय और नोकषाय चारित्र मोहनीय कर्म के ही भेद हैं। कषाय-रागद्वेषात्मक उत्ताप को कहते हैं ¹⁵ जैन आगमों में इसके 16 प्रकार चार वर्गों में विभक्त हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ। अनन्तानुबन्धी कषायों की सन्तति निरन्तर रहती है। तीव्रतम आवेग सहजतः जाते नहीं। इसमें मूर्च्छा का अनन्त क्रम होता है। मनोविज्ञान इसे ग्रंथिपात कहते हैं। जब यह अनन्त क्रम नष्ट होता है तब सत्य की पहली किरण दिखाई

देती है। ये चारों कषाय चतुष्टयी क्रमशः अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का, अप्रत्याख्यान देशविरति का, प्रत्याख्यान सर्वविरति का तथा संज्वलन चीतरागता का बाधक होता है।²⁶

जैन शास्त्रों में मोहनीय कर्म का सूक्ष्म विश्लेषण मनोवैज्ञानिक महत्ता लिए हुए है। व्यक्तित्व विकास का गहन वर्णन दर्पण की भांति कार्यकारण का सार्वभौम सत्य उद्घाटित करता है। राग-द्वेष, जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मूलकारण तथा निवारण की पूरी व्याख्या इस सन्दर्भ में प्रस्तुत होती है।

जैन दर्शन में कषाय और संवेग का अन्तर ठीक वैसा ही माना गया है, जैसा मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति और उससे संलग्न संवेग में। क्रोध संज्ञा क्रोध-कषाय से वैसे ही भिन्न है, जैसे आक्रामकता की मूलप्रवृत्ति से क्रोध का संवेग।

मनोवैज्ञानिक कर्म मीमांसा :-

जैन मनोविज्ञान कर्मशास्त्रीय मीमांसा में शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक स्तर पर घटित सभी घटनाओं का सूत्रधार 'कर्म'²⁷ को मानता है। कर्म, कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति की विस्तृत व्याख्या मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में करता हुआ आगे बढ़ता है। रागद्वेषात्मक उच्चापों के कारण कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ जो आश्लेष होता है-वह कर्म बन्ध कहलाता है। यह जीव की बध्यमान अवस्था है। बन्धने के बाद उसका परिपाक होता है, वह सत् अवस्था (सत्ता) है। परिपाक के बाद सुख-दुःख रूप फल मिलता है, यह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध तीन अवस्थायें बतलाई गई हैं, उसी प्रकार बन्ध, सत् व उदय जैन दर्शन में कथित है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश- ये चार प्रकार हैं। कर्मों के आवागमन को जब तक नहीं रोका गया, तक तक समस्या का अन्त नहीं। कर्म का प्रवेश द्वार है- जैन दर्शन की भाषा में 'आश्रव'। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आश्रव के प्रकार हैं। इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या मन की व्याख्या है। फ्रायड ने मन के तीन स्तर माने- (1) Id इदम्, (2) Ego अहं, (3) Super Ego श्रेष्ठ मन। जैन दृष्टि से अविरति आश्रव मनोविज्ञान का Id इदम् मन है। आन्तरिक असीम महत्त्वाकांक्षाओं से विरत न होना अविरति आश्रव²⁸ है। आदमी में अविरति जब सीमातीत बढ़ जाती है तब वह बाहर की ओर भागता है मानो सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य स्वयं में समेट लेगा। मनोविज्ञान का कहना है कि The thirst of desire is never filled nor fully satisfied जैन सूत्रों का कहना है-

कसिणां पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दल्लेज्ज इक्कस्स ।

तेणापि से न संतुस्से इह, इब्बूरये इमे आया ।²⁹

प्यास बुझाने के सारे साधन उपलब्ध होते हुए भी हम और अधिक शीतल, मधुर

जल की खोज में विपरीत दिशा की ओर भागते हैं, यह हमारा मिथ्या दृष्टिकोण है। आगम इसे मिथ्यात्व आश्रव³⁰ कहते हैं। मिथ्यात्व के सघन अन्धकार में जागृति का प्रकाश कैसे संभव होगा? प्रमाद-अलसता मानसिक तनावों की भीड़ पैदा करती है। धर्म के प्रति अनुत्साह जागता है। यह प्रमाद आश्रव है। कषाय और मन, वचन, शरीर की चंचलता भी कर्मागमन का हेतु बनती है। आत्म-प्रासाद के कर्म-द्वारों को बन्द करने के लिए संवर³¹ की व्यवस्था है। संवर दूषित तत्त्वों को अन्दर जाने नहीं देगा और अन्दर दूषित तत्त्वों को निर्जरा³² द्वारा साफ कर दिया जाएगा तो चैतन्य कक्ष स्वतः पवित्रता से जगमगा उठेगा। आत्म-स्व-बोध की यात्रा का विकास क्रम बन्धन और मुक्ति का सुव्यवस्थित क्रम उल्लिखित है।

स्वबोध की विकास यात्रा-गुणस्थान :-

जैन मनोविज्ञान आध्यात्मिक विकास की सुव्यवस्थित प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। Self realisation का रास्ता, जिसे जैन गुणस्थान कहता है। संसार के चक्र को तोड़कर चेतना सम्पूर्णता को प्राप्त करती है। इसके चौदह सोपान हैं। प्रथम चार तक Self संघर्ष करता है निर्दोषता Perfection को पाने हेतु। चतुर्थ गुणस्थान में 'सम्यक्त्व' प्राप्त होता है। यहाँ आत्मपरिणामों को तीन रूपों में देखा जाता है। जब प्राणी दुर्भेद्य रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के लिए संघर्ष करता है तो 'यथाप्रवृत्ति करण' जब उस कर्मग्रन्थि को तोड़ने के लिए संघर्ष करता है तो 'अपूर्वकरण' तथा अपूर्वकरण द्वारा ग्रन्थि का भेदन होने पर उदय में आए मिथ्यात्व-पुद्गलों को क्षय करके तथा आने वाले मिथ्यात्व का उपशमन करता है तो 'अनिवृत्तिकरण' होता है।³² यह बौद्धिक प्रगति है। It does not involve moral effort for self-realisation इन चार Stages की तुलना The parable of the cave's in Plato's Republic में वर्णित कैदी के विकासमान व्यवहारों से की जा सकती है। नैतिक संघर्ष पांचवी Stage से शुरू होता है। विकास यात्रा में आरोह-अवरोह चलता रहता है। 14वां सोपान पूर्ण self-development का है, निर्दोषता की प्राप्ति का यह गुणस्थान वर्णन मनोवैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

जैन धर्म केवल मानसिक आवेगों का वर्णन ही नहीं करता, साथ में समाधान भी प्रस्तुत करता है। गुणस्थानों के प्रसंग में तीन मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ भी ज्ञातव्य हैं-

1. उपशम, 2. क्षयोपशम, 3. क्षायिक।

उपशम- इस प्रक्रिया को मनोविज्ञान दमन की प्रक्रिया कहता है। वासनाओं को दबाकर चलने वाला साधक 11 वें उपशान्त मोहनीय गुणस्थान तक पहुँचकर भी अचानक उठने वाली कामनाओं से विवश पतनोन्मुख बन जाता है। यह दमन का रास्ता है, विलय का नहीं।

क्षयोपशम- इस पद्धति को मनोविज्ञान वृत्तियों का उदात्तीकरण कहता है। यहाँ

वृत्तियों की दिशाये बदल जाती हैं। कुछेक आवेगों का दमन, कुछेक आवेगों का क्षय, यह सशक्त मानसिक चिकित्सा पद्धति है। फिर भी रोग का समूलतः नष्ट होना आवश्यक है। अतः जैन-धर्म क्षयोपशम के पश्चात् क्षायिक पद्धति को प्रस्तुत करता है।

क्षायिक- इसमें पूर्णतः आवेगों का अन्त है। यह पद्धति कार्य-कारण की खोज करती है, फिर उनकी चिकित्सा भी।

ग्रन्थि-विमोचन की प्रक्रिया :-

प्रायड के अनुसार मन की कामनाओं को चेतन मन का अंह बाहरी मानदण्डों के कारण दमित करता है, उससे ग्रन्थियां बनती हैं और व्यक्ति असामान्य बन जाता है। मनोविज्ञान का सूत्र 'दमन मत करो' यद्यपि ग्राह्य है किन्तु इसका अर्थ 'उन्मुक्त भोग करो' समझने पर धार्मिक और नैतिक जीवन को भी अभिशप्त कर दिया गया। 'संभोग से समाधि' की स्थापना सामाजिक स्तर पर विषमताओं की भीड़ बन गई। इस सन्दर्भ में नीत्से का कथन कितना सच है कि "सब धर्मों में सेक्स को जहर देकर मारना चाहा, पर वह मरा नहीं। इतना अवश्य हुआ कि जहरीला होकर जीवित हो गया।" जैन-धर्म दमन के साथ उसके Sublimation उदात्तीकरण की बात कहता है। आत्मनियन्त्रण के साथ आत्म शोधन भी जरूरी है। अतः आगम सूत्रों में यत्र-तत्र निर्जरा की व्यवस्था दी है। निर्जरा का शरीरपरक अर्थ है- बूढ़ा न होना। देवता कभी बूढ़े नहीं होते, इसीलिए उन्हें 'निर्जर' कहा जाता है। मानसपरक अर्थ है- पुराने आवेगों, संस्कारों का निर्जरण-क्षरण करना। जैन निर्जरा के छः बाह्यभेद (अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता) एवं छः आन्तरिक भेद (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग)³³ करता है।

प्रायश्चित्तः शल्य चिकित्सा :

शरीर और मन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि शरीर की बीमारी बहुत अर्थों में मन की बीमारी है। होम्योपैथिक डॉ. हेनीमेन के शब्दों में - 'मनुष्य की बीमारी उसके मन में नहीं, उससे भी गहरी उसकी आत्मा में है। चरक व्याधि को 'प्रज्ञा का अपराध' कहते हैं। मनोवैज्ञानिक भी शारीरिक चिकित्सा से पहले मन का विश्लेषण करते हैं। जैन-धर्म भी प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण की बात कहता है। दमित इच्छायें ग्रन्थियां बनकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बदल देती हैं। भगवान महावीर इसे 'शल्य' का नाम देते हैं। निःशल्य यानी निर्ग्रन्थ³⁴ बनने के लिए प्रायश्चित्त की पद्धति अचूक दवा है।

प्रायश्चित्त - कृत अपराधों की शुद्धःमन से स्वीकृति। 'उत्तराध्ययन' में लिखा है- प्रायश्चित्त से जीव अनन्त संसार को बढ़ाने वाले मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले निदान तथा मिथ्यादर्शन-शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को उपलब्ध होता है।³⁵ छेद सूत्रों में

भी प्रायश्चित्त पर विशेष बल दिया गया है। प्रायश्चित्तकर्ता का मन बालक सम सरल होना चाहिए, क्योंकि अपराधों का छुपाव कूरता में होता है। एक झूठ सौ झूठ को जन्म देता है। आगम में कहा- 'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'। व्यवहार सूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि आचार्य प्रायश्चित्त देते समय प्रायश्चित्तकर्ता की मानसिक शुद्धता देखे। शुद्धाशुद्धि के आधार पर ही समान दोषों को करने वालों में प्रायश्चित्त का भारी अन्तर पड़ सकता है। अतीत काल के प्रायश्चित्त-आलोचना के कारण ही जैन मनुष्य की मृत्यु को आराधक मृत्यु कहता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपराधों की स्वीकृति के बिना मन पर बोझ रहता है। प्रायश्चित्त-पद्धति व्यर्थ मानसिक बोझ को उतार कर स्वस्थता प्रदान करती है। जैन धर्म का प्रायश्चित्त मन से स्वीकृत है- विवशता नहीं। यह दण्ड नहीं जो कि भोगना ही पड़ेगा। भय, कानून या दबाव से आदमी बदलता नहीं। एक व्यक्ति को किसी अपराध में कारागृह की सजा मिली। सजा भुगतने के बाद वह घर लौट रहा था तो जेल का कम्बल भी उसके साथ था। जेलर ने कहा- अरे भले मानस! कम से कम जेल को तो बख़्शो। आदमी बोला-साहब! आप चिन्ता न करें, मैं अगले सप्ताह जेल में लौट आऊँगा तब आपका कम्बल भी साथ ले आऊँगा। घटना सच है या झूठ, पता नहीं पर जीवन की दिशाओं को कानून या दण्ड नहीं बदलता। यह कार्य जैन मनो-वैज्ञानिक प्रायश्चित्त पद्धति से ही संभव मानते हैं।

प्रतिक्रमण - प्रायश्चित्त का दूसरा कोण प्रतिक्रमण है। इसका अर्थ है- अतीत को पुनः वर्तमान में जी लेना। 'सीमा से आगे बढ़े पैरों को पुनः लौटा लेना। अतिक्रमण अतीत की ग्रन्थियों को खोलने का रास्ता है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन के पीछे अतीत खड़ा है। फ्रायड की आश्चर्यजनक प्रतीति यही थी कि वह सम्मोहन और साक्षात्कार के तरीकों से सुदूर अतीत की अतल गहराइयों तक चेतन मन को उतारना। ग्रन्थिविमोचन का यही उपक्रम प्राचीन समय से जैन आगमों में वर्णित है। प्रतिक्रमण में हम सूक्ष्म स्तर पर कृत अपराधों के कारणों की खोज करते हैं। एक-एक ग्रन्थि का विश्लेषण वर्तमान को तनावमुक्त करता है। इस पद्धति को महर्षि पतंजलि 'प्रतिप्रसव' तथा हर्वार्ड इसे 'रिमेम्बरिंग, रि-थिंकिंग व रि-लिविंग' स्मृति अंकन और संवेदन कहते हैं।

प्रतिपक्षी भावना - मानसिक ग्रन्थियों का विश्लेषण कर उसके निरसन हेतु प्रतिपक्षी भावनाओं का प्रयोग भी मनोवैज्ञानिक है। मोहनीय कर्म के विपाक पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। अतः उपशम से क्रोध, मृदुता से मान, ऋजुता से माया और सन्तोष से लोभ को बदला जा सकता है। आगमिक भाषा में इसे चेतना के जागरण की प्रक्रिया कहते हैं।

इन्द्रिय-संयम कायाक्लेश नहीं- जैन धर्म में इन्द्रिय-संयम का विशेष उल्लेख है। इन्द्रिय-संयम करने वाला पाप नहीं करता³⁶। मनोविज्ञान में दमन की तरह ही जैन-धर्म के इन्द्रिय संयम को कायाक्लेश का नाम देकर अमनोवैज्ञानिक कहा जाने लगा पर इन्द्रिय-संयम

का अर्थ यह नहीं कि इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख कर दिया जाए अपितु विषयभोग के प्रति जुड़े राग-द्वेष के भावों से अलग होना है। कामभोग न किसी को बांधता है और न ही मुक्त करता है। सारा प्रश्न बन्धन और मुक्ति के पीछे खड़े राग-द्वेष भावों का है। व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है। कहा भी है- 'बन्ध पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव'³⁷ जो कर्म बन्धन के निमित्त हैं, वे ही मुक्ति के और जो मुक्ति के निमित्त हैं, वे ही बन्धन के भी।³⁸

राग-द्वेष के कारण होने वाले बन्धन और मुक्ति का मूलभूत आधार है मानसिक भावधारा। जैन दृष्टि से जिसे 'लेश्या'³⁹ कहते हैं। जीवन का हर बुरा-अच्छा पक्ष लेश्या तंत्र पर आधारित है। फ्रायड जिसे लिबिडो कहता है, जुंग जिसे एक सामान्य शक्ति कहता है- शेष सारी उसकी शाखायें हैं, उसी को जैन-धर्म 'तेजस कर्म-शक्ति' कहता है। इसी शक्तितंत्र की चेतना है- लेश्या। इसके द्वारा ग्रन्थितंत्र, कर्मतंत्र संचालित है। यदि ये अशुभ- (कृष्ण, नील कापोत) होंगी तो हमारा व्यक्तित्व दूषित होगा। यदि ये शुभ- (तेज, पद्म शुल्क) होंगी तो सारे अध्यवसाय शुद्ध होंगे। लेश्या भावनात्मक Emotional और मानसिक Mental ओरा निर्मित करती है। यह व्यक्तित्व रूपान्तरण हेतु रासायनिक प्रक्रिया है। आधुनिक 'कलर थेरोपी' की तरह रंग-चिकित्सा के क्षेत्र में लेश्या के प्रयोग शुरू हो गए हैं। लेश्या की शुद्धि में जैन मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति को भी महत्त्व देते हैं। लेश्या अध्यवसायों की विशुद्धि करती है। अध्यवसायों से बाह्य और आन्तरिक व्यक्ति रूपान्तरित होता है। लेश्या एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है।

जैन-धर्म में अहिंसा को आर्हत प्रवचन कहा है। प्राणियों की जिजीविषा और सुखेच्छा के आधार पर अहिंसा का मनोवैज्ञानिक रूप उभरा- 'सव्वे पाण पिआउया सुहासाया दुक्खपडिकूलो'⁴⁰ जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ एयं दुल्लमत्तोहि'⁴¹ सब प्राणियों के भीतर एक प्राण सत्ता की अस्तित्वानुभूति यदि अहिंसा में नहीं होगी तो मात्र विचार और व्यवहार पर उसका कोई मूल्य नहीं। एक व्यक्ति तलवार से किसी को नहीं मारता, परन्तु दमितहिंसा तलवार से उतर कर कलम में आ जायेगी। हिंसा नंगी स्वार्थवृत्ति है। अतः हिंसा का उन्मूलन जीवन रूपान्तरण में है अन्यथा व्यवहार और आचरण की दूरी व्यक्ति को नैतिक बना सकती है किन्तु धार्मिक नहीं। खलील जिब्रान के शब्दों में- "कितने ही ऐसे झूठे हैं, जिन्होंने एक भी झूठ नहीं बोला। कितने ही ऐसे हत्यारे हैं, जिन्होंने किसी का एक बून्द रक्त नहीं बहाया। कितने ही ऐसे व्यभिचारी हैं, जिन्होंने किसी नारी को छूआ तक नहीं" ये व्यक्ति आचरण से धार्मिक नहीं। ये सारी स्थितियाँ दमित इच्छाओं का प्रतिफल है। इन्हें दूर करने हेतु महावीर के इन शब्दों को जीवन आचरण में क्रियान्वित करना होगा कि- संसार और जीवन को खुली आंखों से देखो।

जैन-धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ज्ञान, कर्म और अनुभूति पर टिका है। यह

केवल कर्मशास्त्रीय मीमांसा ही नहीं करता अपितु मन के विविध कोणों को सूक्ष्मता से व्याख्यायित कर मानसिक ग्रन्थिविमोचन का मार्ग प्रशस्त करता है। मंजिल की किसी एक दिशा को जान लो, रास्ता स्वयं मंजिल तक ले जाएगा। 'जे एगं जाणाइ से सव्वं जाणाइ'¹⁴² आत्मा और मोक्ष की बात करने वाला जैन-धर्म जन्म और मृत्यु के बीच यात्रा का सम्पूर्ण पाथेय मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करता है। यह दमन नहीं, शमन की प्रक्रिया बताता है। दमित इच्छाओं की नींव पर भी तनावमुक्त, शुद्ध जीवन का महल खड़ा नहीं होता, अतः जैन-धर्म कारणों की खोज करके निरापद रास्ते का विधान करता है। सम्पूर्ण जैन धर्म-दर्शन का वाङ्मय मनोविज्ञान के सन्दर्भ में पढ़ा जा सकता है। आवश्यकता मात्र धैर्य, विश्वास, सूक्ष्ममेधा और शोधात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण की है, अतः हम इस दिशा में आगे बढ़ते रहें।

सन्दर्भ :-

1. उत्तरञ्जयणाणि 28/10,11
2. भगवती, 718
3. ठाणं, 2
4. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/7
5. प्रज्ञापना, पद 13
6. आचारांग 1/5/5
7. प्रज्ञापना, पद 17
8. तत्त्वार्थ सूत्र 20
9. जैन सिद्धान्त दीपिका 2/34-प्रतिनियम-विषयग्राहिइन्द्रियम्
10. वही 2/41 सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं मनः
11. वही 2/36
12. Some problems in Jaina psychology- By T.G. Kalghatgi
13. जैन सिद्धान्त दीपिका, 2/8
14. वही 2/23
15. तत्त्वार्थ सूत्र
16. प्रमाण मीमांसा 1.2.24
17. आचारांग 1-1-1-3
18. आचारांग 1-1-1-4-5
19. आचारांग 1-3-2
20. आचारांग 1/2/4

21. उत्तराध्ययन 32-16
22. समवायांग 415, प्रज्ञापना पद 8
23. अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड 7, पृष्ठ 301
24. स्था. 2/4/105, कर्मग्रन्थ भा. 1, गा. 13
25. जैन सिद्धान्त दीपिका 4/22
26. वही 4-24
27. जैन सिद्धान्त दीपिका 4-1
28. उत्तराध्ययन 8/16
29. तत्त्वार्थ सूत्र 7/1 तथा 8/1
30. जैन सिद्धान्त दीपिका 4/18
31. जैन सिद्धान्त दीपिका 5/1 आश्रवनिरोधः संवरः
32. वही 5/16 तपसा कर्म विच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा
33. वही 5/8
34. उत्तराध्ययन 30/7-8 तथा 30
35. आचारांग 1/8/8/11- ग्रंथेहिं विवेतेहिं आउकाल सपारए
36. उत्तराध्ययन 26/5
37. दसवेकालिक 4/8 जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं भासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधई ॥
38. आचारांग 7/5/2
39. उत्तराध्ययन 32/100/101
40. जै. सि. दी. 4/28 - 'योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यात् परिणामोऽयमात्मनः'।
41. आचारांग 1/2/3
42. आचारांग 1/3/4
43. आचारांग 1/1/7

प्रवक्ता / सम्पादक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

Ācārāṅga-Bhāṣyam

by Ācārya Mahāprajña

Taiam Ajjhayaṇam — Sīosaṇijjam

Chapter - III

Endurance of Cold and Hot

PREFACE

The title of the present chapter is 'Endurance of Cold and Hot.' This title is meaningful because here the tolerance of cold and hot in the practice of discipline is prescribed. Etymologically cold means cold- environment, hot means hot environment. By implication the word 'cold' refers to the favorable and 'hot' the unfavorable condition. The *Niryukti* has related these two words to the twenty-two types of hardship. Among the hardships, woman and eulogy are 'cold', while others are 'hot'.¹ An alternative meaning of these two words has also been given in the *Niryukti*, viz. The harsh hardships are 'hot' and the mild ones 'Cold'.²

In the *Niryukti*, while applying the process of linguistic analysis to 'cold' and 'hot' some varieties are mentioned such as frost, hail, snow, hail-stone, etc. as animate cold material objects; necklace etc. are inanimate ones. The clouds mixed with animate water are mixed cold material objects. The quality of coldness in matter is an immaterial cold object. The states of the soul - karmic suppression, elimination and elimination-cum-suppression-are immaterial cold objects. Similarly in linguistic analysis of the word hot, fire is an animate hot material object, the ray of the sun is an inanimate hot material object. The luke warm or warm water that is not boiled thrice is a mixed hot material object. The hotness of the matter is an inanimate immaterial object. The state of karmic rising in the soul is animate immaterial object. Anger

and pride are hot, greed can be cold also from a particular standpoint. The state of karmic elimination is hot because otherwise it will not be compatible with the burning of the entire mass of karma.³

The subject matter of the present chapter is concerned with the endurance of cold and hot hardships by the monk. There are four sections in the present chapter, comprising the four topics:⁴ (i) the unrestrained persons are asleep on account of spiritual slumber, (ii) people in spiritual slumber experience misery and suffering, (iii) by mere endurance of suffering,⁵ or by mere inaction devoid of the practice of discipline a person cannot be a monk, (iv) the passions are to be got rid of.

The present chapter starts with the states of sleep and wakefulness. The sleep is as valuable for life as wakefulness. In the spiritual field, wakefulness alone is valuable, and not the state of sleep. It has, therefore, been said that the monks are always awake while others are always asleep. Even though one is sometimes asleep on account of the effective rise of the intuition-covering karma, he is not really in sleep as he is endowed with right vision and disgust for worldly life. It is only rise of the faith-deluding karma that is great sleep in the spiritual sense of the term. The person who has overcome such sleep is always awake. But the person who is under the influence of spiritual sleep induced by the rise of the faith-deluding karma is always asleep. This is the supramundane process of sleep and the awakened state.⁶ The *Niryukti* has defined the demerits of the sleep state and the merits of the wakeful state. Just as a person who is asleep, mad and in coma is subject to incurable suffering, so the person in spiritual sleep is immersed in infinite suffering and misery. On the other hand, just as a wise person fleeing from burning fire enjoys pleasure (and avoids misery) so a person with the discerning knowledge of the miserable and the nonmiserable courses of life enjoys pleasure by avoiding the pitfall of misery.⁷

In the present chapter, the doctrine of equality has been propounded.⁸ As it is a treatise dealing with equality, the *Ācārāṅga* has been named 'sāmāyika', that is, a scripture propounding equality. The phrases versed in three sections⁹ 'the supreme end'¹⁰ etc. in this text are indicative of the antiquity of its composition. Here aphorisms propounding the doctrine of karma are also available¹¹ In this chapter the 'world-view' meaning 'truth' is found construed with many others words.¹² Truthfulness which is of the nature of 'desisting from falsehood is none other than 'desisting from injury to life'. The *sūtras* like the following in the text do not stand for truthfulness of the nature of non-falsehood. But they are expressive.

of- the truth of the nature of true faith or they explain the true nature of the soul and objects:

- Be steadfast in the truth (3.40)
- Man! you should cultivate only the truth (3.65)
- The intelligent monk who is loyal to the truth crosses the domain of death or the sensuous desires. (3.66)

In Jainism, the doctrine of omniscience is found described in detail. The question whether the doctrine of omniscience has been accepted in the *Ācārāṅga* has been raised by scholars. There were indeed discussions of the doctrine in the treatises of medieval period, which are found here also. But from the statement 'this is the philosophy of the seer', (3.85) it is obvious that Jain philosophy is the philosophy of the seer, which did not arise out of logical argumentation. The seer also is qualified by two adjectives: The abandoner of the weapons of violence and non-violent, the maker of the- end, that is, the maker of the end of the knowledge-obscuring karma (3.85). There arises disqualifying impediment due to karma (3.19). There is no such impediment for the seer (3.87). In these two sūtras, there is the base of the argument employed by the medieval logicians for proving omniscience that is, of the definite consummation of the existence of the varying degrees of knowledge is in a state of knowledge that is transcendent and perfect.¹³ The ideal perfection of wisdom - the gradation of perfection must end somewhere, because it is ideal, like the ideal magnitude. By this kind of inference, the existence of ideal wisdom is proved, leading to the proof of omniscience, because the proof of the latter is of the nature of the proof of the former. There was another syllogistic argument: The subtle, the covered and distant objects are perceived by somebody, because they are knowable like a jar and the like. The omniscience is also proved by the noncontradiction of astronomical knowledge as it is said: If the knowledge of absolutely unperceivable objects, were not possible, how could the uncontradicted astronomical knowledge be possible? If such knowledge were admitted as due to scriptural knowledge, the latter (scriptural knowledge) would be another proof to the existence of omniscience.¹⁴

Moreover there is no contradiction available for the thesis of omniscience.¹⁵

The dialogue between the *kālāveśīyaputta* and the elders in the order of Mahāvīra shows the doctrine of six fundamental constituents of the discipline propounded by Lord Mahāvīra.¹⁶

- 1] Observing equanimity by desisting from all kinds of harmful activities in thought, word and deed (3.30)
- 2] Undertaking of vows (I. 11; 3.28; 3.46)
- 3] Self-restraint (3.4)
- 4] Inhibition of the inflow of karma (3.86)
- 5] Perception of the otherness of the soul from the body (4.73-74)
- 6] Abandonment of attachment to the body, passions and the like (8/8/5,29)

In this *Āgama*, all these six constituents are found described as noticed above. There is no clear mention of the five great vows, unlike those that are found in the *Sūtrakṛtāṅga*.¹⁷ In this connection it should be asserted that, in the discourses of Lord Mahāvīra, the five great vows are the members in the elaboration of the principle of equanimity. The exposition of the principle of the soul is intimately related with equanimity, as in the *Bhagavatī* the identity of the soul with equanimity has been clearly mentioned (1.426).¹⁸ This is also found in the *Samayasāra* (gāthā 277).¹⁹

In this chapter, the causes of the rebirth²⁰ and immortality²¹ have been described. Here spirituality has been properly explained.²² Equanimity is possible only in desisting from weapon of violence. It is not possible in the acts of violence because they are mutually incompatible. This chapter, therefore, deserves a very careful study.

References :

1. (a) *Ācārāṅga Nirvyukti*, gāthā 202 :
itthī sakkāraparīśaho ya do bhāvasīyalā ee.
sesā viśaṃ uṅhā parīśahā huṃti nāyavvā.
- (b) *Ācārāṅga Vṛtti*, patra 136 : strīparīśahaḥ satkāraparīśahaśca
dvāvapyetau śītau, bhāvamanonukūla-tvāt, śeśāstu
punarvīśatīruṣṇā jñātavyā bhavanti, manasaḥ pratikūlatvāditi.
2. (a) *Ācārāṅga Nirvyukti*, gāthā 203 :
je tivvapparīṇamā parīśahā te bhavaṃti uṅhāu.
je maṃdapparīṇamā parīśahā te bhave siyā.
- (b) *Ācārāṅga Vṛtti*, patra 136 : tīvro - duḥsaḥ pariṇāmaḥ -
parīṇatīryeṣāṃ te tathā, ya evaṃbhūtāḥ parīśahāste uṣṇāḥ, ye
tu maṇḍaparīṇāmāste śītā iti.

3. Ācārāṅga Niryukti, gāthā 200 :
davve sīyaladvvaṃ davvuṇṇhaṃ ceva uṇṇhadavvaṃ tu.
bhāve u puggalaguṇo jīvassa guṇo aṇṇegaviho..
4. Ācārāṅga Niryukti, gāthās 197,198:
paḍḍhame suttā assaṃjyatti biie duhaṃ aṇṇuhavvaṃti.
taie na hu dukkheṇaṃ akaraṇayāe va samaṇutti.
uddesammi cautthe ahigāro u vamaṇaṃ kasāyāṇaṃ.
pāvaviraṇo viuṇo u saṃjamo ittha mukkhutti.
5. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 102 : idāṇiṃ mā sāsissaṃ egaṃteṇa
dukkheṇa dhammo, teṇa tammatapa-ḍisehaṇatthaṃ bhannaṇti
tatie - na ya dukkheṇa, akaraṇayāe va samaṇotti.
6. Ācārāṅga Niryukti, gāthā 211 :
suttā amuṇao sayā muṇao suttāvi jāgarā huṃti.
dhammaṃ paducca evaṃ niddāsutteṇa bhaiyavvaṃ.
7. Ibid, gāthā 212, 213.
8. Āyāro, 3.3.
- 9-10. Ibid, 3.28.
11. Ibid, 3.18-25.
12. Āyāro, 3.28 - samattadaṃsī. 30 - bhayāṇupassī. 33
āyaṃkadaṃsī. 35 - nikkammaḍaṃsī. 38 - paramadaṃsī. 48 -
aṇṇomadamaṃsī. 72-85 eyaṃ pāsagassa daṃsaṇaṃ. 83 - kohadaṃsī
..... dukkhadamaṃsī.
13. Prajnātiśayaviśyavāsrantyādisiddhestatsiddhiḥ.
14. Siddhiviniścaya. p. 413
'dhīratyantaparokṣe'rthe na cet puṃsāṃ kutaḥ punaḥ.
jyotirjñānāvisamvādaḥ śrutāccept sādhanāntaram..
15. Pramāṇamīmāṃsā, 1. 1. 16,17 'badhakābhāvācca.'
16. Aṃgasuttāṇi II, Bhagavaī, 1.423-428.
17. Aṃgasuttāṇi I, Sūyagaḍo, 2.1.59.
18. Aṃgasuttāṇi II, Bhagavaī, 1.426..... āyā ṇe aḷjo! sāmāie.
19. Samayasāra, gāthā 277 :
ādā khu majjha ṇāṇaṃ ādā me daṃsaṇaṃ carittaṃ ca.
ādā paccakkhāṇaṃ ādā me saṃvaro jogo.
20. Ayāro, 3.14.
21. Ibid, 3.15,36,45.
22. Ibid, 3.54,55.

CHAPTER-III Endurance of Cold and Hot

SECTION -1

3.1 *suttā amuṇī sayā muṇiṇo sayā jāgaramīti.*

The ignorant are always asleep, the wise are always awake.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1

In the present chapter, the forbearance of pleasure and pain with equanimity is explained. The fulfilment of the ends of non-violence and non-possessiveness is not possible without forbearance. In order to fulfill the ends, one has to patiently forbear pleasure and pain. The ignorant is not capable of forbearance. The wise is always awake. He alone is capable of forbearance. The Sūtra expresses this objective truth thus: The wise is he who knows the continuity of the world through the three periods of time (past, present and future), is thoughtful and knowledgeable. The ignorant is quite the opposite. The ignorant people are always asleep.

The asleep are of two kinds: (1) Physically asleep - in the state of sleep. (2) Spiritually asleep - engrossed in violence or possessiveness, or swayed by worldly things and passions, being ignorant of the discipline.

The wakeful is also of two kinds: (1) Physically wakeful - without sleep, (2) Spiritually wakeful - absorbed in non-violence and non-possessiveness, possessed of right faith, freed of all desires and possessed of enthusiasm for the discipline.

On account of the practice of knowledge, the wise has his psyche, mind, brain and entire nervous system under his control, because of his being always spiritually wakeful. Even in the state

of sleep, he does not commit any undesirable act. This is the secret of his complete self-awareness at all times. In poetical literature also, we find the eulogy of constant wakefulness:

“If I had in thought, word or deed, while awake or sleeping, any inclination to being the spouse of any other person other than Rāghava, then, O fire! burn this body of mine, because you alone indeed are the witness to the good or bad will of people.”¹

3.2 *loyaṃsi jāṇa ahiyāya dukkhaṃ.*

You should know ignorance to be cause of misfortune.

Bhāṣyaṃ Sūtra 2

Ignorance and delusion i.e. the perversity of a person who is asleep is ever on increase. Such delusion is suffering, being the cause of misery or suffering in itself.² You should know that the latter is conducive to the baneful. In this very life of a person engaged in violence and possessiveness the baneful consequences like punishment, imprisonment etc. are visible.

3.3 *samayaṃ logassa Jāṇittā, ettha satthovarae.*

Knowing the equality of all beings of the world, one should desist from the weapon of violence.

Bhāṣyaṃ Sūtra 3

Here ‘world’ means ‘inmates of the world’. Perceiving the equality of the inmates of the world, a monk, desists from weapons of injury. Whatever is instrumental to torture to creature is called a weapon of injury. A person of non-violent and non-possessive inclination naturally abstains from all sorts of injurious weapons. Here, in the context of non-violence, the word ‘equality’ stands for comparison with self in respect of suffering. In the context of non-possessiveness, it means ‘balanced attitude in gain and loss, and the like.’

3.4 *jassime saddā ya rūvā ya gaṃdhā ya rasā ya phāsā ya abhisamannāgayā bhavaṃti, se āyavaṃ nāṇavaṃ veyavaṃ dhammavaṃ bambhavaṃ.*

One who has completely known the sensuous objects such as, sounds, colours, smells, tastes and touches - realizes the self, the knowledge, the scriptures, the doctrine and the discipline.

Bhāṣyaṃ Sūtra 4

The person in whose life non-possessiveness has been perfected realizes the self. The idea is the sensual objects like sound etc. are material entities, while the nature of the self is spiritual. There are persons who have properly understood the nature of the sensual objects. In other words, through their intuitive comprehension, those objects are known to them as distinct from consciousness. They also know them (objets) as conditions of bondage of pleasure and pain. Those objects are known by him through comprehension qua knowledge and comprehension qua abandonment. Person of such comprehension realizes the self, the knowledge, the scripture, the doctrine and the discipline.

The present Sūtra propounds the principle of discrimination between the spiritual and the physical. The infatuation and temptation for possession originate due to the identification of the spiritual and the physical. Non-possessiveness matures on the experience of the discrimination between the two. On the maturation of such discrimination, the soul realizes itself. His knowledge is released from attachment to the sensual objects. In other words, the knowledge is freed from any kind of grasping. And therefore, it is only in such state that the soul attains perfect knowledge, 'Scripture' means the sacred lore which deals with the release from attachment and hatred. The soul attains the knowledge of the scriptures when the basic attachment to the physical world is destroyed. The essential character of the doctrine is the sense of equality. Such person remains evenly disposed to the covetable and the uncovetable sensual objects, and is thus established in the doctrine. 'Discipline' means right conduct, truthfulness and austerities. The aspirant is firmly established in them and so is designated as the attainer of the discipline.'

3.5 *paññāṇehiṃ pariyāṇai loyaṃ, muṇiti vacce, dhammaviutti aṃjū*

The person who comprehends the world by means of his wisdom is called monk. He is the knower of the nature of things and is straightforward.

Bhāṣyaṃ Sūtra 5

One who comprehends the world through his discriminative wisdom is called a monk (a knower). He is conversant with the nature of things and is upright.³ 'Nature of things' means nature of all substances. This character of the monk is indicative of his practice of analytic meditation. The person who analytically meditates on the nature of things

comprehends the world as consisting of animate and inanimate things by means of his wisdom. By the comprehensive knowledge of the world, the intelligence about the unacceptable and acceptable becomes manifest. As a result, the aspirant becomes straightforward or devoted to what is good.⁴

3.6 *āvaṭṭaso e saṃgamabhijāṇati.*

The monk who realizes the self knows the clinging as the whirl and the stream.

Bhāṣyaṃ Sūtra 6

Clinging is attachment. The monk recognizes the clinging as whirl and stream.

‘Whirl’ means the agitation or fickleness of the mind due to the impulse of sensual affection.

Stream is the entrance. In the *Sthānāṅga* (9.24) nine streams are mentioned : two ears, two eyes, two noses, the mouth, the genetic organ and the anus.⁵ The stream includes also the senses. In the *Āyāro* (4.45), we find the mention of ‘one entangled in the incoming stream’ which means one entangled in the sensuous stream.

It is explained in the *Nisītha - Bhāṣya- Cūrṇi* that attachment and clinging are synonymous. Or the state of the soul arising from the karma is attachment. The same attachment is called clinging, because it connects the soul with karma.⁶

3.7 *sīsoṇaccāi se niggaṃthe arai-rai-sahe pharusiyam ṇo vedeti.*

The unbound monk enduring heat and cold does not experience any harshness while tolerating ennui and relish.

Bhāṣyaṃ Sūtra 7

‘Cold’ stands for favorable circumstances; ‘heat’ stands for adverse circumstances. The person who tolerates⁷ with equanimity both these conditions is the unbound monk enduring ennui and relish. He does not feel harshness anywhere. On account of the variety of experience even pleasure for non-restraint and displeasure for restraint may arise even in the mind of the aspirant. The person who can bear the two is not subjected to the experience of harshness. Nor does he regard the restraint as a burden,⁸ nor does he generate a knot.⁹

3.8 *jāgara-verovarae vīre*

The wakeful and one free from enmity is the hero.

Bhāṣyaṃ Sūtra 8

One who is wide - awake and above enmity is valourous indeed. Here two defining characteristics of the valourous person are propounded. A person in sleep does not give any special inspiration and so he is not a hero. A person with an inimical disposition towards living creature is also not a valourous person. Violence and possessiveness function as the cause of enmity. A person not desisting from these two dispositions cannot give any kinds of inspiration to any body. Therefore awakefulness and friendliness are the two defining characteristics of a valourous person.

3.9 *evaṃ dukkhā pamokkhasi.*

And thus you will get rid of suffering.

Bhāṣyaṃ Sūtra 9

Thus, by means of wakefulness and the resulting friendliness, it is possible to get freed from misery and suffering. A person in slumber of delusion is an enemy of all living creatures. Such a person generates an unending chain of misery. He is not emancipated from the chain. Therefore, the state of wakefulness is very much worthy of practice. In the presence of wakefulness, a person does not indulge in violence and possessiveness.

3.10 *jarāmaccuvasovaṇīe nare, sayayaṃ muḍhe dhammaṃ nābhijānati.*

The person under the sway of old age, death and constant delusion does not know the doctrine.

Bhāṣyaṃ Sūtra 10

Such person is constantly in the clutches of old age and death. Even then he always lives in stupor and delusion. He does not understand the doctrine which is the condition of the destruction of *karma*.

3.11 *pāsiya āure pāṇe appamatto parivvae*

Looking at the people in anguish, the wakeful one always remains vigilant.

Bhāṣyaṃ Sūtra 11

The wakeful person, perceiving the spiritually sleeping fellow-beings

miserably overwhelmed by physical and mental agonies, or perceiving the lustful or the fear-stricken people, ever remain vigilant i.e., wakeful.

3.12 *maṃtā eyaṃ maimaṃ! pāsa.*

O intelligent person, look thoughtfully.

Bhāṣyaṃ Sūtra 12

These are pitfalls for the person who is spiritually asleep. Seeing this, O intelligent person! you should realize that sleep is harmful and wakefulness is beneficial (for spiritual progress).

3.13 *āraṃbhajaṃ dukkhaṃti ti ṇaccā.*

Having known that suffering is due to acts of violence, (you should practice to ever remain wakeful).

Bhāṣyaṃ Sūtra 13

A 'violent' act means non-restraint or any kind of activity due to violence and the like. 'Whatever misery there is in this world is due to violence' - appreciating this, you should free yourself from all acts of violence and practice religious vigilance.

3.14 *māi pamāi puṇareī gabbhaṃ.*

The deceitful and the non-vigilant transmigrates again and again.

Bhāṣyaṃ Sūtra 14

The realization of immortality is the consummation of religious life. In such state, a person is freed from birth and death. The cessation of the old and resumption of the new body is worldly life. The cycle of repeated birth and death continues in this way.

The Sūtra here defines the condition of rebirth : the deceitful and the non-vigilant is subjected to repeated transmigration. The deceitful has his mind infected by sensual objects and passions. His dispositions are never purified. The non-vigilant cannot act in a right way. He is consequently involved in repeated rebirth. A person who is subject to birth is necessarily subject to death.

3.15 *uvehamāṇo sadda-rūvesu aṃḍu mārābhisaṃkī maraṇā pamuccati.*

The monk who is indifferent to sounds and colours is upright. One who is ever alert to death is liberated from it.

Bhāṣyaṃ Sūtra 15

A person who is indifferent to sensuous objects like sound and colour is freed from anguish. He does not have attachment and aversion to desirable and undesirable objects. He does not strive for them in the least. He becomes simple and Straight Forward on account of the indifference that is tantamount to lack of indulgence. Such person is released from death as he always finds himself alert to it. In other words, he attains immortality. Fear of death is an important means to immortality.

3.16 appamatto kāmehiṃ, uvarato pāvakammehiṃ, vīre āyagutte je kheyāṇṇe.

The enlightened person who is wakeful to desires desists from unrestrained activity, is valoruous and self-absorbed.

Bhāṣyaṃ Sūtra 16

The person conversant with the nature of the psycho-physical apparatus achieves immortality by his own effort. Psychophysical apparatus means the body, desires, sensual objects, violence and activity of thought, speech and body.¹⁰ The person who knows all this is the knower of the apparatus. He is wakeful to his desires; he abstains from evil actions such as violence and the like. He is valorous on account of his valour of self-restraint; he is self-absorbed being guarded in thought, word and deed.

3.17 je pajjavajāya-satthassa kheyāṇṇe, se asatthassa kheyāṇṇe, je asatthassa kheyāṇṇe, se pajjavajāya-satthassa kheyāṇṇe.

The monk who is enlightened with respect to non-restraint (weapon) about the modes of sensuous objects is conversant with self-restraint (non-weapon). One who knows self-restraint is conversant with non-restraint that occurs about different modes of sensuous objects.

Bhāṣyaṃ Sūtra 17

Indulgence in the sensuous objects such as sound, colour and the like is non-restraint, while abstinence from them is restraint. Both these should be comprehended. The various modes of the sensuous objects destroy the wakefulness. They are thus the weapons of injury. Subjugation of them is non-weapon. The person who is conversant with the various modes of the weapons constituting non-restraint, is also conversant with the non-weapons or restraint. The person who understands the nature of non-weapons is also conversant with the modes of the weapons. The

idea is, so long as the nature of non-restraint is not known, it is impossible to know the nature of restraint. Similarly, so long as the nature of self-restraint is not known, the nature of non-restraint is also not properly known. The knowledge of either depends on the other. This order of evolution (of self-restraint) finds lucid expression in the following verses:¹¹

The gradual growth of the excellent truth in the consciousness is accompanied by the gradual distaste for sensuous objects howsoever easily accessible; and conversely the growth of distaste for sensuous objects, howsoever easily accessible, and conversely the growth of distaste for sensuous -objects, howsoever easily accessible, is accompanied by the gradual growth of the excellent truth in the consciousness.

3.18 akammassa vavahāro na vijjai.

There is no designation for the soul freed from the karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 18

On the elimination of the karma, the person becomes free from karma. A. person freed from karma has no designation. 'Designation' means naming or division, e.g., the hellish being, animals, men, gods; similarly child, boy, youth and aged; such and such by name, such and such by lineage.

The person possessed of karma has designation. This is indicated in the Sūtra that follows.

3.19 kammuṇā uvāhī jāyai.

The adjunct is produced by karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 19

The meaning of adjunct¹² is denoting, naming or connoting. The adjunct is due to karma. For instance, the designations like happy, unhappy, energetic, depressed, etc., are due to karma.¹³

3.20 kammaṃ ca paḍilehāe

Ponder over the function of karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 20

The karma produces adjunct; therefore, the karma should be examined and erased. The bondage is due to karma. The bondage consists of category, duration, intensity and mass. By the investigation of bondage, a proper understanding of the karmic chain is attained. As a result, it is comprehended that-

3.21 *kammamūlaṃ ca jaṃ chaṇaṃ.*

Karma is the root of violence.

Bhāṣyaṃ Sūtra 21

Violence is killing. Karma is the root of violence. The root of violence is investigated in the conditions of environment, chemical hormones and the like, but the root cause of violence is karma. The karma whose rising makes the soul indulge in violence is called the 'source of injury to life.'

3.22 *paḍilehiya savva¹⁴ samāyāya.*

Pondering over the karma one should accept this truth.

Bhāṣyaṃ Sūtra 22

After examining the karma in the aforesaid manner, one should accept the absolute truth that attachment and hatred are the root cause of karma. On the acceptance of the truth -

3.23 *dohiṃ aṃtehiṃ adissamāṇe.*

The detached person is not found as affected by attachment and hatred.

Bhāṣyaṃ Sūtra 23

A person has twofold character - character dominated by attachment, character dominated by hatred. A person dominated by attachment is known by his attachment, a person dominated by hatred is known by his hatred. A detached person is not affected by either of the two. His activities are not due to either attachment or hatred. And therefore he is not markable by these two natures.¹⁵

3.24 *taṃ pariṇṇāya mehāvī.*

The intelligent should comprehend this.

Bhāṣyaṃ Sūtra 24

The state of stupor leads to evil, the state of wakefulness to good. Comprehending this, an intelligent person strives for wakefulness or getting rid of attachment and hatred.

3.25 *vidittā logaṃ, vaṃtā logasaṇṇaṃ se maiyaṃ parakkamejjāsi. - tti bemi.*

The intelligent monk should know the 'world' of sensuous objects, and give up the 'world instinct' and should strive in self-restraint. Thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 25

An intelligent person strives for wakefulness. For this purpose, it is necessary to appreciate the nature of the world (of passions), and to abandon the worldly instinct. So long as there is no right discrimination about the world of passions and their fruition, one cannot strive in the right direction. So long as the worldly instinct, that is, the popular proneness towards the sensual objects, is not given up, how can there be any attempt at wakefulness?¹⁶

References:

1. 'manasi vacasi kāye jāgare svapnamārgē,
yadi mama patibhāvo rāghavādanyapumsī/
tadiha daha śarīraṃ māmakam pāvakedam,
vikṛtasukṛtabhājām yena sāksī tvameva//'
2. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 105, dukkhamiti kammaṃ sārīrati vā.
(b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 139 : duḥkhaḥetutvād duḥkham -
ajñānam mohaniyam vā.
3. Cūrṇau 'amjū' padasya 'rju' ityartho dṛśyate - amjutti ujjum, jam bhaṇitiṃ
niruvahayam (Ācārāṅga Cūrṇi, p. 106). vṛttāvapi rjuriti rjoḥ -
jñānadarśanacāritrākhyasya mokṣamārgasyānuṣṭhānādakutīlo
yathāvathitapadārthasvarūpaparicchedād vā rjuḥ sarvopādhiśuddho'
vakra iti yāvat (Ācārāṅga Vṛtti, patra 140) iti vyākhyātamasti. kintu
prastutapadasya 'amjū' dhātoḥ sambandhaḥ adhikam saṃg-acchati.
amjasa śabdasya arthopi 'rjuḥ' bhavati 'apte', 'amjasa' - Not crooked,
straight, honest, upright.'
4. Apte, rjuḥ - Beneficial.
5. Aṃgasuttāni I, Thānaṃ 9.24 : ṇavasotaparissavā bomdī paṇṇattā, taṃ
jahā - do sottā, do nettā, do ghāṇā, muhaṃ, posae, pāu.
6. Niśithabhāṣya Cūrṇi, part III, p. 190
7. Ācārāṅga Cūrṇi, p 107 : cāeti sāhati sakkei vāsehi tuṭṭhāeti vā dhādeti
vā egatthā.
8. Ibid, p. 107, pharusiyam - saṃjamo, ṇo hi pharusattā saṃjame tavasi
vā kammāni laggamti ato saṃjamaṃ tavaṃ vā phārusayam ṇa vedeti,
jahā bhāravāho abbhikkhaṇaṃ bhāravahaṇeṇa jitakaraṇa-tteṇa ya
garuyamavi bhāraṃ ṇa vedayati, ṇa vā tassa bhārasa unviyayati, so
evaṃ phārusayam avedaṃto.

9. Aptc, paruṣaḥ - Knotted; parus æ a joint, knot (granthiḥ)
10. (a) Gītā, 13.1-6.
 idaṃ śarīraṃ kaunteya! kṣetramityabhidhīyate.
 etad yo veti taṃ prāhuḥ kṣetrajña iti tadvidah/
 kṣetrajñaṃ cāpi māṃ viddhi sarvakṣetreṣu bhārata!
 kṣetrakṣetrajñayorjñānaṃ yat tajjñānaṃ mataṃ mama/
 tat kṣetraṃ yacca yādṛkaḥ ca yad vikāri yataśca yat/
 sa ca yo yat prabhāvaśca tat samāsenā me śṛṇu/
 ṛṣibhirbahudhā gītaṃ chandobhirvidvidhaiḥ pṛthak/
 bramasūtrapadaiscaiva hetumadbhirviniścītaiḥ
 mahābhūtānyahaṃkāro buddhiravyaktameva ca
 indriyāṇi daśaikaṃ ca pañca cendriyagocarāḥ
 icchā dveśaḥ śukhaṃ duḥkhaṃ saṃghātascetanā dhṛtiḥ/
 ettat kṣetraṃ samāsenā savikāramudāhṛtam
- (b) Cf., Gītā 13.7-11
- (c) See - Āyāro, 4.2 Bhāṣyam.
11. Iṣṭopadeśa (Pūjyapādakṛta), śloka 37,38
 yathā yathā samāyāti, saṃvitau tattavamuttamam
 tathā tathā na rocante, viṣayāḥ sulabhā api
 yathā yathā na rocante, viṣayāḥ sulabhā api.
 tathā tathā samāyati, saṃvitau tattavamuttamam
12. Cūrṇikāreṇa upadhipadaṃ vyākhyātam - uvahī tivihō - ātovahī,
 sarīrovahi, kammovahi, tattha appā duppauto āuvadhī, tato kammuvahī
 bhavati, sarīrovahīo vavaharijjati, taṃjahā - neraiyasarīro vavahāreṇa
 u neraio evamādi, tahā bālakumārārāti, bhaṇiyaṃ ca - 'karmmaṇo jāyate
 karmma, tataḥ saṃjāyate bhavaḥ.
 bhavāccharīraduḥkhaṃ ca, tataścanyataro bhavaḥ.. (Ācārāṅga Cūrṇi, p
 109, 110)
 upādhiḥ upadhiśca - dve pade amānārthake api vidyate.
13. Cf. Āyāro, 2.185.
14. prastutasūtre 'savvaṃ' iti padasya na koyarthaḥ paribhāvvyate. asya
 sthāne 'saccaṃ' iti pāṭhaḥ saṃbhāvvyate. prācīnalipyāṃ vakāracakarayoḥ
 sādṛśyāt viparyayo jātaḥ iti saṃbhavati.
15. Cf. - Aṃgasuttāṇi 1, Sūyagaḍo 2.1.54. je khalu gāratthā sārāmbhā,
 sapariggahā saṃtegaiyā samaṇā māhaṇā vi sārāmbhā sapariggahā duhao
 pāvāṃ kuvvaṃti, iti saṃkhāe dohi vi aṃtehim adissamaṇo.
16. Cf. Āyāro, 2.159.

The Historical Beginnings of Jainism*

by Prabodhchandra Bagchi

(1) Introductory

India has been called the “Land of Religions” and none can deny that she is really such. So many religious movements have never fallen to the lot of any other country and no other people except the Indians have ever been able to lay claim to such a unique religious evolution. Jainism plays an important role in this religious evolution and a complete history of Indian religions is an impossibility if due regard is not paid to this religion.

But as yet, as far as the historical study is concerned, much systematic work has not been done in this field except the several valuable but isolated attempts made by Professor Buhler, Professor Jacobi and Dr. Hoernle. That more study, - and systematic study, - of the thing is an ultimate and immediate necessity, there can be no question and the reasons for this are not far to seek. Jainism is professed by one million and a quarter of the most influential part of the Indian people and the most interesting feature is that it has succeeded in continuing to be a living religion up till now its contemporary movements have almost died away. Even Buddhism cannot count anything more than an insignificant following as its own in India at the present day.

These very considerations, not to speak of the inquisitive spirit of the antiquarian, urge one to look back into the past history of the religion. The first problem, one meets with here is, when did Jainism originate? Hence this slight attempt has been made to systematise the information available at the present state of our

*This article was first published in the Sir Asutosh Mookerjee Silver Jubilee Volume-III, ORIENTALIA Part-3, published by the Calcutta University in 1927

knowledge, bearing upon the discovery of the necessary conditions under which and the time when the religious movement of the Jainas was started.

(2) The first Tīrthaṃkaras

The sacred tradition of the Jainas all along tries to superimpose on their followers the idea that their religion is an eternal one which has been revealed from time to time to the Tīrthaṃkaras who come to this world as ardent exponents of the faith in every age like the Paurāṇic *Avatāras*.¹ They believe in a long line of twenty-four Tīrthaṃkaras like the Buddhists, who created a long story of the past Buddhas in the post-Asokan days. From the Jaina point of view neither Rṣabhadeva, the first of these Tīrthaṃkaras, nor Mahāvīra, the last of them, can be properly accredited with the first promulgation of the Jaina religion. The fundamental truths of this religion were in existence from time immemorial and can be traced even before the Vedas. The Tīrthaṃkaras realise these truths when they attain enlightenment and preach them to the people.

The traditional way of the Jainas is to begin their history with the career of the first of these twenty-four Arhats. Without going into the details of the lives of these shadowy personages we shall remain satisfied in giving their names² for the present. They are (1) Rṣabhadeva; (2) Ajitanātha; (3) Sambhavanātha; (4) Abhinandana; (5) Sumatinātha; (6) Padmaprabha; (7) Supārśvanātha; (8) Candraprabha; (9) Suvidhinātha; (10) Śitalanātha; (11) Śreyāmsanātha; (12) Vāsūpiyya; (13) Vimalanātha; (14) Anantanātha; (15) Dharmanātha; (16) Śantinātha; (17) Kumthunātha; (18) Aranātha; (19) Mallinātha; (20) Munisuvrata; (21) Naminātha; (22) Neminātha or Ariṣṭanemi; (23) Pārśvanātha; and (24) Mahāvīra.

This list is implicitly relied upon by the Jainas as genuine. But no historical evidences have as yet been forthcoming to warrant the real existence of the first twenty-two Tīrthaṃkaras. On the other hand they appear to be quite fictitious personages for reasons not far to seek.

The duration of the careers of these Tīrthaṃkaras is so very much exaggerated³ that the list cannot be considered as genuine. Thus Rṣabhadeva is believed to have lived for eighty-four lakhs of *pūrva* or great years: even Neminātha or Ariṣṭanemi, the 22nd Tīrthaṃkara is said to have flourished for one thousand years. The ages of the intermediate ones vary within these two limits. Pārśvanātha's career is only unusually short in comparison to these. He is said to have lived for one hundred years.

The list again appears to be of a stereotyped character. The names of some of the Tīrthaṅkaras have been immortalised even in the Brahmanical and Buddhistic traditions.⁴ But whatever the traditions may say, there is no way of establishing the authenticity of the list.

The list, therefore, seems to have been contrived for proving a great antiquity of the religion. In order to give a religious sanctity to this fanciful antiquity the Jainas blended it with their theological doctrine. It only tries to inculcate that Jainism was not a new faith but one that was as old as time itself and illustrates the popular Jaina belief in the alternate creation and destruction of the universe. Under these circumstances no one can consider the first twenty-four Tīrthaṅkaras as historical personages. Some recent attempts⁵ have been made to prove the real existence of Vāsudeva, the relative of Ariṣṭanemi, or Neminātha, the 22nd Tīrthaṅkara. If the conclusions be well established we can find some clue through which the historicity of Ariṣṭanemi also can be established. But in the present state of our knowledge that appears to be a hopeless task. He is, besides, believed to have lived for 1000 years and this preposterous duration goes against any presumption about the historicity of Ariṣṭanemi. So far as our knowledge goes for the present we are not justified in placing any confidence upon the traditions regarding him or in tracing the beginnings of the Jaina religion from him.

Historical data however enable us to expel the doubts regarding the real existence of the last two Tīrthaṅkaras, viz. Pārśvanātha and Mahāvīra. Pārśvanātha, the immediate predecessor of Mahāvīra is said to have flourished some 250 years before the advent of the latter. In view of the fact that for all practical purposes we cannot but consider Pārśvanātha, as the first historical promulgator of the Jaina religion, let us examine the traditions that centre round him and determine his real position in the history of the religious evolution of the Jainas.

(3) Pārśvanātha : The traditional account of his life

The Jaina traditions⁶ are unanimous in saying that Pārśvanātha flourished about 817 B.C. It is distinctly related in the Jaina Kalpasūtra that he was born in Benares in an auspicious moment, with all the royal prerogatives, being the son of King Aśvasena and Queen Vāmā. The queen, before giving birth to the future Tīrthaṅkara became subject to those happy dreams which are always the precursors of the advent of a great man. The tradition tells us, furthermore, that when the Bhagavān was in the embryo, the mother saw a serpent by her side (पार्श्व). This is why the

child was called Pārśvanātha.⁷ As soon as the child was grown up, he became a “favourite of the people” for many acts of kindness to them. But he had higher aims and aspirations and was determined to realise these in his life. He lived 30 years as a householder and as soon as his parents passed away he made up his mind to leave the world. One day he went right through the town of Benares to the park called *āśramapāda* and proceeded to the excellent tree of aśoka. “For eighty-three days he neglected his body and meditated upon himself for eighty-three days.” After the practice of these severe austerities he reached the infinite, highest knowledge and intuition called *kevala*. He preached for full seventy years and starved himself to death, at last, on the mount *Sameta Śikhara* in Bengal. He left behind him an excellent community of eight *gaṇas* with eight *gaṇadharaṣ* at their heads.

This is the traditional account of Pārśvanātha’s career leaving all the grotesque details⁸ out of consideration. Let us see what historicity can be attributed to these traditions and what historical evidences are forthcoming to corroborate them.

(4) Historical Evidences in support of the tradition

There is much to be said in favour of the Jaina tradition that Mahāvīra was no more than a reformer of an older Nigaṇṭha order founded by Pārśvanātha. In support of this tradition we have to say:-

(i) Makkhali Gośāla who was an older contemporary of Mahāvīra, divided mankind into six classes - *chalābhijātis*. This division seems to have a reference to a separate Nigaṇṭha order, separate from that founded by Mahāvīra,⁹ of the six divisions made by Gośāla, the *Lohitābhijāti*, the third division represents the Nigaṇṭhas. The Nigaṇṭhas who are placed in this “red class” are described as *eka-sāṭākā* or *Bhikshus* provided with one garment. We, therefore, take it to be an allusion to Pārśva’s followers and not to those of Mahāvīra, since the latter were conspicuous by their disregard of clothes.

(ii) The dialogue between Keśi and Gautama in the Jaina *Uttarādhyāyana Sūtra*¹⁰ contains a distinct reference to two separate Nigaṇṭha orders - one existing previously and founded by Pārśvanātha of which Keśi was the representative in the time of Mahāvīra, and the other founded newly by Mahāvīra himself. The *Ācārāṅga Sūtra*¹¹ again records that Mahāvīra’s parents were worshippers of Pārśva and his Śramaṇas and that they committed religious suicide according to the strict injunction of the Jaina rules of asceticism.

(iii) It is not improbable, again, that the grammarian Pāṇini in his *sūtra* (II.1.70) *kumāraḥ śramaṇādibhiḥ* had the followers of Pārśva in view. *Kumāraśramana* or *Kumāraputta* is used as an appellation of the followers of Pārśvanātha in the Jaina texts.¹²

(iv) In the Buddhist literature a *Nigaṇṭha* doctrine of *cātuyāma samvara* is referred to. We cannot but agree with Prof. Jacobi in his surmise that this peculiar doctrine of fourfold restraints belonged to the followers of Pārśvanātha. It cannot be ascribed to Mahāvīra and his followers as in the Jaina literature a clear distinction is made between the *pañcayāma dharma of Mahāvīra's* order and the *cātuyāma dharma of Pārśva's* followers. Though the Buddhist attribution¹³ of this doctrine of fourfold restraints has been to Mahāvīra, we cannot but take it as a mis-statement. The Buddhists ascribed the old Nigaṇṭha creed to Mahāvīra who took the lead of the community and of whose reforms they were not aware.

(v) We cannot ignore the matter-of-fact enumeration of this doctrine of fourfold restraint in the *Bhagavati Sūtra* where in course of a serious dispute between Kālāsa vesiyaputta, a *Pāsāvachhejja* (i.e. *Pārsvāpatyeya*) or a follower of Pārśva and some disciples of Mahāvīra Kālāsa at last apologies and begs permission to stay with them after having changed the law of four vows for the law of the five vows¹⁴ (*tujjhaṃ antie cātujjāmato dhammāto paṇoamahavvaiyaṃ sapaḍikkamaṇaṃ dhammaṃ uvasampajjitaṇaṃ viharitṭae*).

(vi) The Jaina tradition refers to the existence of a set of sacred canons called the fourteen *pūrvas* even before the advent of Mahāvīra. These were later on either lost or incorporated in the later literature. Prof. Jacobi opines and probably quite rightly, that this existence of an earlier literature (*pūrvā*) presupposes the existence of an earlier sect of the Nigaṇṭhas.¹⁴

(vii) Above all Prof. Jacobi points out that the *Majjhima Nikāya* records a disputation between Buddha and Saccaka whose father belonged to Nigaṇṭha order. “Saccaka is not a Nigaṇṭha himself, as he boasts of having vanquished Nātaputta in disputation, and moreover the tenets he defends are not those of the Jains. Now when a famous confroversialist, whose father was a Nigaṇṭha was a contemporary of the Buddha, the Nigaṇṭhas can scarcely have been a sect founded during Buddha's life.¹⁵

These evidences, it appears, presuppose the existence of a Nigaṇṭha order founded by Pārśvanātha before the advent of Mahāvīra. It is also admitted on all hands that mahāvīra joined that order for sometime at the

beginning of his ascetic career and that he left it on account of some possible regeneration that had crept into that community.¹⁶

(5) Pārśvanātha's Contribution

Pārśvanātha flourished, as already noted, towards the end of the ninth century (817) B.C.¹⁷ which was the age of Brahmanical predominance. Pārśvanātha's position, therefore, becomes more distinct and the value of his services becomes more prominent when one takes into consideration the possible difficulties he might have undergone in rising an uncompromising protest against Brahmanical tyranny.

It appears that Pārśvanātha, "the people's favourite" founded a new religion which was not meant for the sacred few but for all. The age of Pārśvanātha was coeval with the age of the older. Upaniṣads when the thoughtful section of the community in their zeal for the attainment of the knowledge of the supreme world left the suffering masses to shift for themselves. At this juncture Pārśvanātha recognised the moral elevation of the people at large and especially of the lower castes as a supreme task of religion. He felt for them and came forward to their help. Hence the significance of the standing addition "the people's favourite"¹⁸ to his name. It implies that Pārśvanātha's mission was to uplift the mass. It appears, besides, that his movements, as such, were not favourably looked upon by the aggressive Brahmanism of the period and the attitude of it was probably positively hostile. This is confirmed by the utter silence of the Brahmanical literature about Pārśva and the fact that though he was a prince of the Madhyadeśa he could not do anything great in that part of the country where Śuddha and Mahāvira moved so triumphantly later on. His progress in that quarter was not anything remarkable and his order probably could not be anything better than a shifting body of monks and nuns, as it really was when Keśi was at the head.¹⁹

Another characteristic feature of Pārśvanātha's order appears to have been the elevation of the status of women. However eloquent we may be about the names of Gārgī Vāchaṇavī and Maitreyī, it cannot but be admitted that the status of women-folk was far from being very high in the time of Pārśvanātha. Only a few women might have raised themselves into recognition by dint of their own learning and independence of spirit. Pārśvanātha seems to have tried his best to give to this weaker sex full freedom and to maintain equality between man and woman in matters religious. This is why we see that he admitted a large number of female disciples into his order without any consideration of the possibility of a

future degeneration; and he, and only he, appears to be the first of such well-wishers.

The most important feature of his movement was the emphasis he placed upon the doctrine of *ahimsā*. It was another point in which he made a bold departure from the prevalent custom of the Brāhmaṇas; whatever spiritual significance might have been attached to the Vedic sacrifices, the people could scarcely act in accordance with it. The merciless slaughter of animals in sacrifices possibly had drawn the attention of Pārśvanātha. His independent spirit could not brook this kind of slaughter of life in the name of religion and thus he enjoined the vow of non-killing as one of the fundamental principles of his religion. Along with this doctrine of *ahimsā* he introduced three other great vows:²⁰ of abstinence from telling lie (*satya*), from stealing (*asteya*) and from having any property (*aparigraha*). These four great vows (*cāujjāma saṃvara*)²¹ of Pārśvanātha constituted one of the important features of the immediate background of Jainism proper.

The metaphysical tenets of Pārśvanātha, as can be gathered from incidental references, were in their elementary forms. He maintained that knowledge, faith and right conduct are the true means to final liberation. The four passions (anger, pride, deceit and greed) together with the five senses are the dreadful drawbacks which should be checked as soon as possible. One can put an end to the cycle of births to which he is subject by doing this. "There is a safe place in view of all, but difficult of approach, where there is neither old age nor death, nor pain nor disease. This is what is called *nirvāṇa* or freedom from pain. It is the safe, happy and quiet place which the great sages reach."²²

For the attainment of this goal, we understand, Pārśvanātha enjoined such religious practices as the observance of four great vows and the three *guptis*, etc. Religious suicide also appears to have been considered by Pārśvanātha as a method for the attainment of salvation. The *Ācāraṅga sūtra*²³ records two different processes of religious suicide. The one which is older is to be accredited to Pārśvanātha.

(6) Pārśvanātha's order

The *Nigaṇṭha* community, left by Pārśvanātha, was, traditionally speaking,²⁴ an excellent community of 16,000 śramaṇas and 30,000 nuns with 164,000 lay disciples. One however, cannot place implicit reliance on these traditional numbers. One cannot believe at once that in the period

of Brahmanical predominance Pārśvanātha could have been in a position to create such a large community. What appears to be probable is that he succeeded in leaving behind a Nigaṇṭha order consisting of a fairly large number of monks and nuns besides a laity which was large enough to support this order.

This order seems to have undergone some changes in the period intervening between the death of Pārśvanātha and the advent of Mahāvīra. Some degeneration probably crept into the church and this might have been the cause of Mahāvīra's alienation.²⁵ The possibility of this degeneration also suggests itself when one considers the fact that Pārśvanātha did not introduce any hard and fast commandment regarding the vow of chastity and that he allowed a free admittance of women into the community, perhaps, for the first time in India.

However, at this juncture this order of Pārśvanātha became amalgamated with the newly founded order of Mahāvīra through the intercession of Keśi and Gautama. In spite of this a spirit of dissension continued to work for some time and this took a definite shape in the division of the church into two factions - the Digambara and Śvetāmbara.

The tradition records that Pārśva left eight *gaṇas* with their *gaṇadhara*s behind him.²⁶ It may be presumed on the strength of this statement that there was possibly some good arrangement for the government and organisation of the community from the earliest times. This state of things continued up to the time of Mahāvīra, as one finds that followers of the order travelled under leaders like Keśi from place to place. They were not scattered here and there but constituted an organised body.

(7) Makkhali Gośāla and the original Nigaṇṭha order

The intimate relation of Makkhali Gośāla with the Jainas and the existence of certain common elements both in Ajivikism and Jainism tend to suggest that he was probably connected with the original Nigaṇṭha order in some way or other.

We know from the account of Pārśvanātha's life that he himself practised severe austerities for a long time. There can be no doubt, therefore, that he was an ardent advocate of it and as such he introduced it into his religious system. Curiously enough, Makkhali Gośāla also emphasises again and again on this severe asceticism.

It has been already seen that the vow of chastity was significant by its absence from the disciplinary rules of Pārśvanātha's order. Makkhali

Gośāla also is accused of unchastity, more than once though in an exaggerated way.

Another significant fact is that the six *Jeśya*²⁷ divisions of the Nigaṇṭhas are just similar to the Ājivika division of mankind into six classes (chalābhijātis).²⁸ Both are based on the same psychological principles and both of them seem to presuppose the older Nigaṇṭha division into six *jīvanikāyas*.²⁹

The disciples of Makkhali Gośāla again, firmly believed him to be their last Tīrthaṃkara.³⁰ It appears that this Ajivika tendency to attribute the qualities of a Tīrthaṃkara (a word which especially belongs to the Jaina terminology) to Gośāla was due to the influence of the beliefs of the original Nigaṇṭha order. This is why they persisted in maintaining that their leader was the last Tīrthaṃkara whereas the followers of Mahāvīra maintained that Mahāvīra was the last Tīrthaṃkara.

Thus it seems probable that Gośāla began his religious career in the order of Pārśvanātha and even worked with Mahāvīra as such. He later on left that community and joined the small Ājivika order of Nanda Vaccha and Kiśa Saṃkiccha and raised that order to a status of recognition ere long. He probably could not be free from some of the Nigaṇṭha predilections which became deep-rooted in the Ājivikism which took a new shape at the hands of Makkhali Gośāla.

(8) Mahāvīra and the original Nigaṇṭha order

Most of the features of Pārśvanātha's religion are conspicuously present in the later Jainism. They underwent only some minor changes at the hands of Mahāvīra. Thus Mahāvīra added the vow of chastity to the four great vows introduced by Pārśvanātha. "The law as taught by the great sage Pārśva," records the *Uttarādhyāyana sūtr*,³¹ "recognised but four great vows (*cāujjama saṃvara*)". It however cannot be believed that a great religious teacher like Pārśvanātha did ignore this important injunction. What seems to be possible is that he implicitly included it in one of the four vows, naturally that of abstinence from having any property (*aparigraha*).³² Mahāvīra simply emphasized this point. Another innovation which Mahāvīra introduced was his rule permitting the disciples to go about naked.

These minor changes cannot merely be applied as a test of Mahāvīra's attainments. His contribution to Jainism lay chiefly in the development of the metaphysical side of the *Nigaṇṭha* religion. The moral precepts of

Pārśvanātha demanded a deeper metaphysical justification which was supplied by Mahāvīra's doctrines.

In spite of this development of the metaphysical side which is useful only to the advanced few, it appears that the Jainism, as preached by Mahāvīra, was substantially the same as Pārśvanātha's religion. The fundamental principles of the two religions were not at all different, though the minute details might not have agreed. "*Both laws pursuing the same end,*"³³ asks Keśi to Gautama, "what has caused this difference? Have you no misgivings about this twofold law, O wise man?"³⁴ And from what Gautama says in reply, it becomes quite plausible that both the creeds were essentially the same, the difference consisted only in the various outward marks of the religious men.

Mahāvīra, therefore, does not appear to have made any capture from the lines laid down by his predecessor or to have done anything beyond some improvements necessitated by the requirements of the time. The development of the metaphysical side also was a necessity which possibly those from the strong opposition of the existing systems.

Summary and Conclusion

(1) We have seen that the traditional list of the Jaina Tirthaṃkaras cannot be relied upon implicitly. The first twenty-two of them appear to be shadowy and fictitious personages and no historical importance can be attributed to them at the present state of our knowledge.

(2) From a few genuine references to the 23rd Tirthaṃkara - Pārśvanātha - we have tried to suggest that the history of Jainism really begins with him. The principal features of his movement - as we understand from those incidental references, were -

- (a) The uplifting of the mass and the consequent abolition of the caste system and class distinctions.
- (b) The elevation of the status of women.
- (c) The introduction of the four great vows (the cāujjāma saṃvara) - non-killing, and abstinence from telling any lie, from stealing and from possessing any property - ahimsa, satya, asteya and aparigraha.
- (d) In addition to these four great vows he enjoined strict asceticism as the only way for the attainment of salvation. The practice of religious suicide also may be resorted to as a method for facilitating the attainment of the desired end.

(3) We have also tried to make it clear that the doctrines of Pārśvanātha constituted the immediate background of the later Jainism. Mahāvīra only followed in the footsteps of his eminent predecessor and raised a grand superstructure on the foundations laid down by Pārśvanātha.

(4) Above all, it has become evident that Jainism was not a new phenomenon in the history of Indian religion of the sixth century B.C., as is popularly supposed. The Jaina traditional accounts are quite justified in carrying back the origin of their religion to the previous Tīrthamkaras, at least as far as Pārśvanātha, the twenty-third of them, is concerned.

There seems to be no denying the fact that this twenty-third Tīrthamkara was a historical personage and was no doubt one of the most powerful religious teachers who fought against the aggressive Brahmanism of the period as early as the ninth century B.C. He persisted in carrying out his mission with every possible care and unflinching courage. He came as a liberator of the depressed and down-trodden and passed away with laurels on his crown leaving his work to be continued by his successors to perfection.

References :

1. The Paurāṇic belief is that whenever the religion undergoes a decadence whenever then become sinful, an Avatāre or Incarnation of the god comes down for setting everything right. The conception of a Tīrthamkara, though it does not coincide with this, is however similar to that of an Avatāra. A Tīrthamkara, is also believed to appear when the religion becomes decadent. The difference is that while an Avatāra is considered as an Incarnation of the god and as such comes down with divine qualities, a Tīrthamkara is a human being who attains perfection and divine qualities by virtue of his pious acts like a samyak Ambuddha of the Buddhists.
2. Bühler, On the India Sect of the Jainas (Ed. Burgess), pp. 66 ff.
3. For the period of each Tīrthamkaras, cf. Stevenson, The Heart of Jainism, pp. 50 ff.
4. It is a noteworthy fact that all the Jinas are attributed to the Ikshvākū family with the exceptions of Munisuvrata and Neminātha who were of the Harivaṃśa race. As such many of them have been immortalised in the Ramāyana, the Mahābhārat and the Purāṇas, as ardent exponents of Hinduism.
5. H.C. Raychaudhuri, Early History of the Vaisṇava Sect (Calcutta University).
6. Cf. Jacobi, Jaina Sūtra, Pt. I (SBE)

7. The tradition give two carious explanation os the name Pārśvanātha : (i) स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावादिति पार्श्वं i.e., who can know everything by touch. (ii) गर्भस्थे जनन्यानिशि शयनोयस्थयांऽधकरि सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावीयमिति पश्यति इति निरुक्तायात्पार्श्वं i.e., When the child was in the embryo the mother saw a serpetn by her side on the bed in the dark. This is the reason why he was named Pārśvanātha (cf. Jainatattavādarśa, 2nd ed., p. 14) Both of these explannation,s however, it is quite apparent, are destitute of any historical value.
8. For these details, see the digest, prepared by Prof. Bloomfield, of the stories from Śrī Bhāvadevasuris Pārśvanāthacuritra. The prenatal history fo Pārśvanāthas career has been dealt with in full in this digest.
9. Aṅguttara Nikāya, Pt. III, pp. 383-84; Sumaṅgala Vilāsini, I, p. 162
10. Jacobi, Jaina Sūtra; Pt. II, SBE., vol. xiv, pp. 119 ff.
11. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. I, BE, vol. xxii.
12. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. II, SBE, vol. xlv, p. 119, no. 3.
13. Of the two enumerations of the fourfold restraint by the Buddhists one differs, as is kindly pointed out to me by Dr. B.M. Barua, and the other tallies with the Jaina exposition of the same.
 - (a) as explained in the Sumaṅgala Vilāsini, I, p. 167.
 nātaputtaavāde cātuyāma saṃcūra sainvutta ti catu koṭṭhāsena saṃvarena saṃvutta. sabba-vāri-variot cātuyāma sabbaudako patikkhittasabba-sitodakopti attho. so kiro sitodaka satta-saññi hoti, tasmā taṃ na valañjiti. sabbavāriyuto ti sabbhena pāpavāraṇṇena yutto. sabba-vāri-dhuto ti sabbena pāparāraṇṇena phutto.
 - (b) in the Dīgha Nikāya, III, pp. 48.9
 idha nigrodha topssi na pāṇam atipātetī na pāṇam atipātayeti, na pāṇam atipatayati samanūñño hoti.... na adlinaṃ ādagati. na musā bhaṇati ... na bhāvitam āsimsatsi.
14. Indian Antiquary, vol. ix, 1880, pp. 158 ff.
15. Jacobi, introduction to the Jaina Sūtras, Pt. II, SBE, vol. xiv, p 22--
16. Stevenson, The Heart of Jainism, p. 35
17. Ibid, p. 48
18. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. I, SBE, vol. xxii.
19. It may be noted that many of the religious orders of the time consisted of a body of monks who loved to shift from place to place lecturing on special religius topics for winning over the people to their sides. Such were the orders of Makkhali Goisāla, Sañjaya Belaṭṭmhiputta, Pakudha Kaccayāna and many oothers recorded in the Buddhist Literature.
20. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. III, SBE, xiv, p. 121

21. Ibid, p. 121, n. 2
22. Ibid, p. 128
23. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. I, SBE, vol. xxii, p. 120. That religious suicide was enjoined by Pārśva becomes evident from that not only Pārśvanātha himself but also Mahāvīras parents who belonged to Pārśvas order committed it. Cf. Jaina Sūtras, Pt. I, p. 420.
24. Ibid.
25. Professor Jacobi also suggests that there might have been some decay of morals in the order of Pārśvanātha : Jaina Sūtras, Pt. II, SBE., Vol. xlv p. 122, n. 3. But the ground he adduces appears to be doubtful . A passage of the Uttarādhyāya Sūtra runs thus : Gautama replied to Keśi - The first saints were simple but slow of understanding, the last saints prevaricating and slow of understanding, those between the two simple and wise, hence there are two forms of the law. Jacobi also remarks in this connection : the argumentation in the text presupposes a decay of morals of the monastic order to have occurred between Pārśva and Mahāvīra. But the passage in question does not seem to refer to any such decay of morals definitely. It rather appears to refer to the fact that the religion at first was in its pristine simplicity but with Māhāvīra who introduced a complex metaphysical system that simplicity ceased. The first saints were slow of understanding and thus unable to introduce that philosophical system but Mahāvīra was not of that type.
26. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. I, SBE, vol. xxii.
27. Leśyā, the totalitty oof KKaarma done by a man gives a transcendental colour, a kind of complexion to the soul. It cannot be perceived by our eyes. These colours are six in number, viz., kṛṣṇa-leṣyā, nīla-leṣyā, kāpata-leṣyā, tejo-leṣyā, śukla-leṣyā. The first three belong to decidedly bad characters and the last three to good ones. Cf. Stevenson, Heart of Jainism, pp. 102-104.
28. Chalābhajātis : manking can be divided into six classes - blacks blue, red, yellow, white and supremely white. The Jains belong to the red class whereas the followers of Makkhali belonged to the white and those of Nanda Vacca and Kiśa Saṅkiccha to the supremely white class. Cf. Dr. B.M. Barua, The Ājivikas (Calcutta University).
29. Ācārāṅga Sūtra, PTS, II, p. 15; Dr. B.M. Barua, The Pre-Buddhistic Indian Philosophy, p. 303.
30. Dr. B.M. Barua, The Ājivikas.
31. Jacobi, Jaina Sūtras, Pt. II, SBE., vol. xlv, p. 121
32. Ibid, p. 121, n. 2
33. Ibid, p. 122
34. Ibid, p. 123

Jaina Priests at the Court of Akbar*

by Mohanlal Dalchand Desai

Of all the emperors that wielded their sway over India, Akbar deserves our deepest respect and keenest notice for the catholicity of his attitude towards religions, other than his own. A Muslim by birth, Akbar's mind was great enough and broad enough not to look upon Islam as the only religion that would dispel all the darkness obstructing the spiritual progress of mankind. He wanted to find out a common ground on which all faiths would agree. It was one of his ambitions to found a faith acceptable to all human beings. Once he said:-

“Although I am the Master of so vast a kingdom and all the appliances of Government are to my hand, yet, since true greatness consists in doing the will of God, my mind is not at ease in this diversity of sects and creeds; and apart from this outward pomp of circumstance, with what satisfaction in my despondency, can I undertake the sway of empire? I await the coming of some discreet man of principle, who will solve my spiritual difficulties.” (“The Sayings of His Majesty” *Aine Akbari*, Vol. III, p. 336)

Maxmuller calls Akbar the first student of comparative religion. Fired with the zeal to provide a common faith for all, he first studied and discussed the doctrines of Islam with the help of Ulemās. Next, he gathered around him a select group of persons who had drunk deep at the fountains of other faiths - Hinduism, Jainism, Zoroastrianism, Christianity and other faiths.¹ Reason rather than anything else was his guiding star in his quest of truth,

* This article was first published in the Journal of the Gujarat Research Society, Vol. IV, No. - 1, published by the School of Economics and Sociology, University of Bombay, 1942

which would be acceptable to all. He once said, “(1) The superiority of man rests on the jewel of reason. It is meet that he should labour in its burnishing, and turn not from its instructions; (2) A man is the disciple of his own reason. If it has a good lustre, it becomes itself his director, and if it gains it under the direction of a higher mind, it is still a guide.” (Ibid p. 382).

The result of his inquiry into, and study of, the tenets of various faiths was little short of a revelation to himself. He found that the common current running through all the faiths was the quest of truth - eternal truth about the purpose lying behind the creation, in the broadest sense of the term. He also found that all the faiths were nothing but strenuous efforts to mould human behaviour in such a way that it would be in tune with the infinite, and that all the faiths represented the undying desire of Man to see his way through the tangled cobweb of this universe. Some faiths had gone far on the way to this final discovery, while others lagged behind; but all unflinchingly aimed at the same thing. No sooner did this truth dawn upon him that he proclaimed complete religious toleration throughout the length and breadth of his mighty empire. It was the corner stone on which he strove to build the edifice of a World Faith. He earnestly believed that it would make the world happy and contented, and would bring lasting peace to one and all. At least, this belief made him the mightiest and the most beloved monarch.

The days of Islamic superiority and despotic fanaticism were over. He frankly admits: - “Formerly, I persecuted men in conformity with my faith, and deemed it Islam. As I grew in knowledge, I was overwhelmed with shame. Not being a Muslim myself, it was not meet to force others to become such. What constancy is to be expected from proselytes on compulsion?” (*Aine Akbari*, Vol. III, p. 384)

Religious debates and discussions, were carried on at the *Ībādatkhānā*, or House of worship built in 1573, for about three years by Ulemās of rival schools of Islamic theology. Abul Fazl says that by 1578, representatives of many creeds had gathered there to join the discussions. “Sufi philosopher, orator, jurist, Sunni, Shiā, Brāhman, Jati, Siurā, Chārvāk, Nāzarene, Jew, Satr (Satran), Zoroastrain and others enjoyed exquisite pleasures.” (*Akbaranāmā* Vol. p. 365. Beveridge’s edition). The term “Jati” (Sanskrit equivalent “Yati”) in the above extract, refers to Jaina (not Buddhist) ascetics or monks; and the term “Seurā” (Sanskrit “Śvetāmbara”. Prākṛit “Seyamvara”) means “Śvetāmbara Jains”.

Chalmers, however, mistranslated them as “Jains, Buddhists.” Elliot and Dowson (authors of “History of India as told by its own Historians”) took Chalmers’ interpretation as correct. This, in its turn, led Von Noer, (author of “The Emperor Akbar”) to infer wrongly:- “It may be concluded with not too slight probability that there were Buddhists at Fattepur” (Beveridge’s translation I, 327, note). The fact, on the other hand, is that there is not a title of evidence to the effect that any Buddhist ever attended these religious debates or that Akbar ever came in touch with a Buddhist scholar. Abul Fazl, as he himself admits, failed to learn anything about Buddhism because Buddhism was almost extinct in India in those times.

Badaoni, a staunch Muslim historian, while summarising the reasons, which led Akbar to renounce the Islām says:- “The Principal reason was the large number of learned men of all denominations and sects, that came to his Court from various countries, were granted private audiences. His Majesty heard the opinion of each one, especially of non-Muslims, retaining that which appealed to his reason and rejecting everything else. As a result of this, a faith based on some elementary principles traced itself on the mirror of his heart; and out of the various influences that were brought to bear on His Majesty, there grew gradually as an outline on a stone, the conviction in his heart, that there were sensible men in all religions, deep thinkers and men endowed with miraculous power, among all nations.”

He further states:- “Moreover *Sumanis*² (*Śramaṇas*-Jaina ascetics) and Brahmans managed to get frequent private audiences with his Majesty. They surpass other learned men in their treatises on morals and on physical and religious sciences; they have reached a high degree of perfection in their knowledge of the future, in spiritual power and human perfection. Consequently, they laid down proofs, based on reason and testimony, of the truth of their own religion, and of the fallacies of others; and they inculcated their doctrines so firmly, and so skilfully represented things as quite self-evident things which otherwise require consideration-that to raise a doubt in His Majesty’s mind about the truth of their doctrines was more difficult than crumbling a mountain to dust or tearing asunder the heavens above.” (Blochman Al Badauni, p. 256).

“Hence His Majesty cast aside the Islāmīc revelations regarding resurrection, the day of judgment, and all the details connected with it, as also all ordinances based on the tradition of our prophet. The doctrine of the transmigration of the souls especially took a deep root in his heart,

and he approved of it by saying:-“There is no religion in which the doctrine of transmigration has not taken firm root.”

It is now clear that the terms “Jati” and “Sewrās” used by Abul Fazl, and the term “Samanis” in Badaoni’s work, refer to the monks and members of the Jaina Śvetāmbara sect. The Jaina monks thus played a prominent part in the discussions and debates at the Ibādathkhanā, and had a powerful hold over the mind of the emperor. Modern European historians took little notice of this-may be quite unintentionally. It was the late and great Jaina scholar, Chimanlāl Dāhyābhāi Dalāl, M.A., who drew their attention to this, by writing, under the *nom de plume* “C”, an article on “Hiravijaya Sūri or the Jainas at the Court of Akbar,” which was published in “Jaina Śāsana”, Divali Issue (Benares), of S.Y. 1910, Vira Sam. 2437, (Pp. 113 to 128). This article constituted the principal authority for Dr. Vincent Smith when he wrote on the influence of Jains on Akbar, in his authoritative work, “Akbar, the Great Mogul”. (Later editions) His article, “The Jain Teachers of Akbar” (Bhandarkar’s Commemoration Vol. pp. 265 to 276), is also largely based upon the same source.

Mr. Dalāl says:-“It is true that the religious side of Akbar’s character has received disproportionate amount of attention; nevertheless, it is very interesting to see how that mighty figure achieved a quite herculean task of not only satisfying his subjects professing various creeds and religions, but making them believe that he was a follower of their faiths. The Christians believed that he was a Christian, the Parsis that he was a Parsi, while the Hindus thought that he was a Hindu. His religious policy thus excites our great admiration.”

“Akbar’s religion was an eclectic one; as he was an earnest seeker after truth, he took it from wherever (whatever source) he found it. In the following pages it is shown what he took from Jainism-non-killing of beings (non-violence), compassion towards all living beings, abstaining to a certain extent from flesh-eating, belief in re-incarnation and in the theory of Karma; and how he favoured it by (his) handing over its religious places to its followers and honouring its learned professors”.

A marvellous array of conquests over almost all parts of India was one of the many glorious achievements of Akbar. His plan of bringing under his sceptre the whole of India had met with a large measure of success. By the end of the 18th year of his rule, in 1574 A.D., his sway extended over North-Western, Central and Western India (Gujarāt

conquered in 1573 A.D.) and over the Punjāb and Kābul. The end of 1574 A.D., witnessed the annexation of Bengāl and Behār; and in 1575 A.D., his mighty hand descended over Orissā. According to Badāoni, “many years previous to 983 H.E. (1576 A.D.), the emperor had gained in succession remarkable and decisive battles ... No opponent was left in the world”. It was about this time that the Emperor got the Ibādatkhānā built at Fatehpūr. Men of learning, men well-versed in the doctrines of their own faiths, religious fanatics and liberal-minded philosophers, in short, men interested in religious problems, gathered there in large numbers, and carried on discussions and debates over which the Emperor, not unoften, presided. Thereafter he suppressed several rebellions here and there” (Malleon, “*The Emperor Akbar*” p. 115 and onwards).

Abul Fazl says in his *Aine Akbari* (Vol. I, p. 537):- “I shall now speak of the sages of the period and classify them according to their knowledge casting aside all differences of creed. His Majesty, who is himself the leader of the material and the ideal worlds and the sovereign over the external and the internal, honours five classes of sages as worthy of attention The first class, with the lustre of their star, perceive the mysteries of the external and the internal, and with their understanding and breadth of vision, fully comprehend both realms of thought. The second class pay less attention to the external world; but in the light of their hearts they acquire vast knowledge; (i.e. they understand the mysteries of the heart). The third class do not step beyond the limits of observation and acquire knowledge based upon testimony. (Philosophers and theologians). The fourth class look upon testimony as something filled with the dust of suspicion, and accept nothing without proof (Philosophers). The fifth class are bigoted, and cannot pass beyond the narrow sphere of revealed testimony (Scientists).”

In the list of these learned men, we come across the names of three Jainas, viz., Hariji Sūr, Bijai Sen Sūr, and Bhānchand; they are no others than Hīra-Vijaya Sūri, Vijaya-Sena Sūri, and Bhānucandra Upādhyāya. Hīra-Vijaya Sūri is placed in the first class, while Vijaya-Sena Sūri and Bhānucandra are placed in the fifth class.

1. Hīra Vijaya Sūri

After his return from Kābul in 1582 A.D., Akbar heard that there was in Gujarāt a Jaina Priest, named Hīra-Vijaya Sūri, who was richly endowed with striking qualities of head and heart, and who led a life of saintly purity. Always eager to come into contact with such learned and

holy persons, he sent two Mewrās to Ahmedābād, with a farmān ordering Sāhebhkhān, the governor of Gujarāt, to ask the priest to proceed towards his Court. Sāhebhkhān informed the leading Jainas of Ahmedābād of this Imperial invitation. A deputation of Jainas waited upon the Ācārya at Gandhār. He readily accepted the invitation thinking that much good might come out of his visit to the emperor. In a short time he reached Ahmedābād where he was received by Sāhebhkhān who offered him money, conveyances, horses and other means of comfort. He politely thanked him for his offer, but at the same time refused to accept them on the ground that Jaina monks were prohibited from accepting any means of physical comfort, by their religious tenets. From Ahmedābād, he started on foot towards Āgrā, visiting village after village, and town after town on his way, preaching the gospel of Lord Mahāvīra to people. On his reaching Āgrā, he was accorded a royal reception.

It was Abul Fazl who escorted the Ācārya to his place. A discussion took place between the two, specially on the questions of resurrection and redemption. Hīra-Vijaya Sūri made it crystal clear to Abul Fazl that a man's happiness or misery in his present life was the result of his meritorious or wicked actions during his previous life or lives. This struck fundamentally against the idea of all human beings rising from their graves on the Day of Judgment to hear the Divine Decree from the Almighty, who would administer to them even-handed justice according to the way they led their lives. The idea of a personal God thus was a needless superfluity. Abul Fazl was mightily impressed with his lucid way of explaining things, and at once took him to the Emperor, who, hearing that the holy man had come all the way on foot in accordance with the rules of his Order, greeted him with much pleasure and respect. In the talk that ensued, the Ācārya explained to the emperor what he had already explained to Abul Fazl, about the nature of Supreme diety and that of a true preceptor-master and true religion. He also laid great stress upon the imperativeness of leading a pure and holy life devoted unflinchingly to the good of all beings around a man. Then he dwelt upon the five holy vows observed by all Jaina monks viz. non-violence, truth, non-acceptance of anything without its being offered, celibacy and non-possession. Then Akbar requested him to read his future from the position of the stars, but the sage replied that he could not comply with that request because Jaina monks were forbidden by a religious tenet, to read any one's future or to make prediction.

The impression that the Ācārya made on the emperor was profound,

and as a token of his admiration for him he offered him a large number of religious books, an offer which the monk at first was disinclined to accept but which he accepted when pressed by the importunities of Abul Fazl and Thānsing. A library was opened at Āgrā and all these books were placed there under the charge of Thānsing.

After the monsoon of 1582 A.D. the Emperor had another audience with the Ācārya at Abul Fazl's palace. This time he offered him a large sum of money, horses, elephants and other things; but the sage politely refused the offer saying that a Jaina monk was never to accept anything pertaining to material comfort from any one. When pressed by the emperor to ask for something for him and thus to afford him an opportunity of being useful to him in some way, the sage requested him to release all the prisoners, to set free all the caged birds, and to prohibit the slaughter of animals at least during the eight days of jaina holidays known as Paryuṣanā. The Emperor readily complied with this request of the sage and instantly issued orders prohibiting animal-slaughter for 12 days. This order was later on extended to the Naoroz day. Fishing was prohibited at the lake Dāmara, a large lake stretching over 12 *Yojanas* near Fatehpūr Sikrī. The emperor took a vow to refrain thenceforward from hunting, a favourite pastime of his.

In June 1584 A.D. (S.Y. 1641 first Āṣadha) the title “*Jagadguru*” (World Preceptor) was conferred upon the Ācārya. In celebration of this auspicious occasion, birds engaged on the banks of Dāmara were set free. In conformity with the wishes of the emperor, the title “*Upādhyāya*” was conferred upon Śānticandra. The Sūri passed the monsoons of 1584, 1585 and 1586 A.D. at Āgrā, Abhirāmābād and Āgrā respectively. Then he left Āgrā for Gujarāt, leaving Śānticandra at the Court. (The details given above are a brief summary of “*Hīra-Saubhāgya Mahā-Kāvya*”). Readers desirous of having a full account should consult this, “*Jagadguru Kāvya*” and “*Kṛpā-Rasa-Kośa*” all in Sanskrit; other sources of information are “*Hīravijaya Rāsa*” (in Gujarāṭi) by Ṛṣabhadāsa, and the inscriptions in Sanskrit at Śatrunjaya, especially the long record (No. XII Epi. Indica Vol. II Ch. 6, J.B.R.S. August 1844) containing 67 verses composed by Hemavijaya and inscribed in A.D. 1593 at the Ādinātha temple.³

2. Śānticandra Upādhyāya

Śānticandra is the author of a panegyric on the Emperor. The work is composed in Sanskrit, and is entitled “*Kṛpā-rasa-Kosa*” (Treasury of

the merciful deeds of the Emperor.) He used to recite these verses in the presence of the Emperor, who always held a high opinion about him. When Śānticaṇḍra started for Gujarāt in 1587 A.D., the Emperor issued *farmāns* prohibiting the slaughter of animals, and proclaiming the abolition of the Jaziā tax (a tax levied on Hindus). For six months out of the year, animal-slaughter was prohibited. The six month consisted of the previous 12 days which include 8 days of Paryuṣanā, the Naoroz day all Sundays, days of Sophian Id, equinoxes, the month of his birth, days of Mihira, the month of Rajab, and the birth-days of his sons.⁴

In support of this, we find in Al-Badaoni, (p.321, Blochman) :- “In these days (991 H. E. - 1583 A. D. and thereafter) new orders were given. The killing of animals on certain days was forbidden, as on Sundays, because this day is sacred to the Sun; during the first eighteen days of the month Farwardin; the whole month of Aban (the month in which His Majesty was born) and on several other days, to please the Hindus. This order was extended over the whole realm, and capital punishment was inflicted on every one who acted against the command. Many a family was ruined, and his property confiscated.” (Lowe).

The term “Hinduṣ” in the extract above means “Jainas”, because Jaina only made endeavours to preach and practise the prevention of animal-slaughter.

Akbar fasted during these days. Abul Fazl says:- “During the time of these fasts, His Majesty abstained altogether from meat, as religious penance, gradually extending the several fasts during a year over six months and even more, with a view to eventually discontinuing the use of meat altogether.” *Aine Akbari*, Vol. I, p. 200).

Mr. Vincent Smith, in his “*Akbar*” p. 167, says:- “Akbar’s action in abstaining almost wholly from eating meat and in issuing stringent prohibitions resembling those of Aśoka, restricting to the narrowest possible limits the destruction of animal life, certainly was taken in obedience to the doctrine of his Jain teachers.”

Śānticaṇḍra went to Gujarāt, leaving Bhānucandra in his place.

3. Bhānucandra

Bhānucandra and his pupil Siddhicandra continued to stay at Court during the remaining part of Akbar’s life and during the rule of Jahāngir also. Bhānucandra had accompanied Akbar to Kāśmir. While the Emperor was strolling on the banks of the lake named Jayanal Lankā, he requested

him to abolish the tax which was then levied on Jaina pilgrims to Mount Śatrunjaya. The Emperor graciously complied with his request. An imperial firmān was issued making grant of the Hill to Hira-Vijaya Sūri, and it was despatched to him in 1592 A.D. A detailed account of Bhānucandra is given in the Sanskrit work entitled “*Bhānucandra Gaṇi Carita*” composed by his pupil Siddhicandra, which is nothing but his biography.

4. Siddhicandra

He was a favourite and talented pupil of Bhānucandra. A handsome youth and a great scholar of Sanskrit and Persian, he made a profound impression upon Akbar. he performed 108 *avadhānas* (i.e. attending to 108 things at a time), a marvellous feat of memory. The Emperor, much pleased and highly impressed with this, conferred upon him the title “*Khush-faham*” (a man of sharp intellect). He is the author of the above Bhānucandra Carita. More details about him will be found in that work which is to be published as No. 15 of singhi Jaina Series.

5. Vijayasena Sūri

During the monsoon of 1592 A.D. (S.Y. 1649 Hindi) Hira-Vijaya Sūri was residing at Rādhapur. It was there that he received the imperial farmān making him the grant of Mount Śatrunjaya. He also received an imperial call from Lāhore, to send his pupil Vijaya-Sena Sūri there as Akbar wanted to meet him. In response to the call, he directed his pupil to start for Lāhore and to pay a visit to the Emperor there. After the monsoon was over, Vijaya-Sena (on Mārgaśīrṣa Śukla 3rd S.Y. 1649 Monday 27th November 1592 A.D.) started for Lāhore and reached it on the 12th day of the bright half of Jyestha S.Y. 1650, (Thursday 31st May 1593 A.D.). One of his pupils, Nandivijaya by name, performed eight *avadhānas*-attending to eight things at a time. the Emperor, favourably impressed with the performance, conferred upon him the title “*Khush-faham*” (a man of sharp intellect).

Some non-Jainas told Akbar that the Jainas did not believe in God. Upon this, the Emperor requested Vijaya-Sena Sūri to hold a debate at his Court with the learned Brāhmins, on the subject of the existence or otherwise of God. The debate was dully conducted, and Vijayasena, quoting chapter and verse from the scriptures, marshalling facts and arguments based upon sound logic, gave a lucid exposition of the Jaina-view of God, and convinced and silenced the Brahmins. On another occasion the Sūri convinced the Emperor of the necessity of prohibiton

of the slaughter of cows, bulls, she-buffaloes and he-buffaloes, and of repealing the unedifying law which empowered the State to confiscate the property of those persons who died heir-less, and of capturing prisoners as hostages. Convinced of the harmful nature of these things, the Emperor issued farmāns prohibiting all these things.

At the instance of the Emperor, the Sūri conferred the title “Upādhyāya” upon Bhānucandra. On this occasion, Abul Fazl gave 600 Rupees and horses in charity. Pleased with Sūri’s ability to score success over Brāhmins in the debates at the Court, the Emperor conferred on him the title “*Savāi Hīravijaya Sūri*” (i.e. in a way superior to even Hīra-Vijaya Sūri). He spent two monsoons at Lāhore. When he departed for Gujarāt, imperial firmāns about the prohibition of animal-slaughter, confiscation of property, and the capture of prisoners were presented to him. He started for Gujarāt in 1596 A.D. By the end of that year, Hīra-Vijaya Sūri died at Unā in Kāthiāwar. [A detailed account of Vijaya Sena Sūri will be found in:- “*Vijaya-prāścsti Kāvya*” a work in Sanskrit which is virtually his biography; 6th Chapter of “*Vijayadeva-Sūri-Māhātmyam*”; inscriptions of S.Y. 1656 (No. 454 Jinavijaya II), S.Y. 1659 and 1661. (Nos. 913 and 1121 Buddhi. II), S.Y. 1662 and 1664 (Nos. 511 and 512, Jina. II), S.Y. 1666 (No. 406, Buddhi. II)].

All the five Jaina teachers mentioned above belonged to Jaina Śvetāmbara Tapā Gaccha and hailed from Gujarāt. For them the readers are referred to C’s article ‘Hīravijaya Sūri or the Jains at the Court of Akbar’ and V. Smith’s article ‘Jain Teachers of Akbar’ and his book ‘Akbar the Great Mughal’ One prominent Jaina teacher with whom Akbar came into contact, was a member of the Jain Śvetāmbara Kharatara Gaccha. His name was Jinacandra Sūri. European scholars do not seem to have taken any notice of him. That is all the more reason why we shall dwell upon him along with his pupil at some length below.

6-7. Jinacandra Sūri and Jinasiṃha Sūri

In 1591 A.D. Akbar was at Lāhore. There he heard that Jinacandra Sūri was also a great Jaina teacher. So he called Mantri Karmacandra, a lay member of the Kharatara Gaccha and asked him everything about the preceptor. An imperial firmān was given to him inviting the holy man to the Court. The Sūri received the firmān at Cambay. He immediately started. At Jālor, he passed the monsoon. In *Māgsar* of S.Y. 1648, (November 1591 A.D.), he started for Lāhore and reached it on the 12th day of the bright half of Fāgan of S.Y. 1648 (Monday 14th February 1592 A.D.). It

was “Id” day of the year. Karmacandra escorted him to the Court. The Emperor had a private audience with him, in which he expressed his delight at the prompt way in which the Sūri had responded to his invitation. He requested him to be present at his Court whenever religious debates and discussions were going on. He further said that all his desires were fulfilled and he wanted the Sūri’s blessings to the effect that his heart might always remain filled with compassion, and that his son also might be of an equally compassionate nature. At his request the Sūri passed the monsoon at Lāhore. Seeing that the Emperor respected him highly, the people called him “Bade Guru” (Great teacher). One day the Sūri heard that the temples near Dwārkā were demolished by Navaranga Khān. He thereupon requested the Emperor to protect all the Jaina temples. Akbar issued a firmān proclaiming the Grant of Śatrunjaya and other Jaina holy places to Karmacandra Mantri. A firmān to the same effect, bearing the imperial seal, was sent to Ājam Khān (Ilhai 36, i.e. 1592 A.D., S.Y. 1649 Hindi).

Before starting on his expedition to Kāśmir, the Emperor called the Ācārya and had his “*dharma-lābha*” (religious blessings). At that time he issued a firmān prohibiting slaughter of animals for further 7 days from Asād Sud 9th to 15th. It was dispatched to all his 11 Subahs (Governors). At the request of Akbar, Mānasimha, a favourite disciple of Ācārya, with Dungara (Harśaviśāla) and others of his pupils accompanied him to Kāśmir, so that he might have religious talks whenever he so desired. It was at the instance of Mānasimha, that Akbar prohibited fishing in all the lakes of Kāśmir. After the death of the ruler of Kāśmir, it was resubjugated. Akbar returned to Lāhore (29th December 1592; S.Y. 1649 Pauṣa Śudi 6th Friday).

Akbar then conferred the title “Yuga-Pradhāna” (Supreme in the Age) on Jinacandra Sūri, and the title “Ācārya” on Mānasimha, whose name was changed to Jinasimha Sūri. The occasion was celebrated with great eclat on Fāgan Sud. S.Y. 1649, Friday 23rd February, 1593, by Karmacandra, who was encouraged and supported by the Emperor himself. Fishing and animal-slaughter were prohibited in Combay for one year, and in Lāhore animal-slaughter was prohibited for the day of the festival. (From “Karmacandra Vamsa Prabandha a Sanskrit poem by Jayasoma Upādhyāya at Lāhore in S.Y. 1650, Vijaya-daśami (Tuesday 9th October 1593 A.D.) and Sanskrit thereon and Gujarāti Karmacandra V. Prabandha by his pupil Gunavinaya both composed in S.Y. 1656 and 1655).

The firmān given to Jinacandra Sūri was lost or misplaced. Upon this his pupil Jinasimha Sūri applied to the Emperor for another firmān Akbar readily granted on 31st Khurdād, Elāhi 59 (1605 A.D.), referring therein to the firmāns granted to Hira-Vijaya Sūri and to Jinacandra Sūri, prohibiting the slaughter of animals and flesh-eating during the 12 days of Paryuṣanā, and during the seven days from Asād Sud 9th to 15th (“Sarasvati”, June, 1912, a Hindi monthly”). (For a detailed account, Nāhtā’s Hindi book entitled ‘Yogapradhāna Śri Jinacandra Sūri’ be consulted.)

Other Jaina Teachers at the Court of Akbar

We have finished the accounts of great Jaina teachers at the Court of Akbar. Now we shall deal with some minor Jaina teachers who visited the Royal Court.

8. Padmasundra

Padmasundara was a Jaina monk⁵ staying at Āgrā. Akbar had formed a high opinion of him and bore great affection towards him. It is said that on one occasion Akbar made the following remarks about him while talking with Hira-Vijaya Sūri:—“There lived some time ago a learned man named Padmasundara. He was my dear friend. He had studied at Benares. Once a proud brahmin pandit began to style himself ‘Pandita-Rāja’. Thereupon Padmasundara challenged him to a debate in which he utterly vanquished him. Unfortunately, he died after some time, leaving me in constant sorrow. I have preserved all his manuscripts and scriptures in my palace, because I found that his pupils were not worthy enough to receive so rich a heritage. It is my wish that you accept this collection as a gift from me” (*Hira-Saubhāgya-Kāvya*, Ch. 14, Verses 91 to 94).

9. Nandivijaya

Nandivijaya was a pupil of Vijayasena Sūri, and had accompanied him to the Court of Akbar, at Lāhore. He performed eight *avadhānas* at the Court, where many feudatory kings and barons were present. The Emperor who was highly impressed with the performance, conferred on him the title “*Khush-faham*” (a man of sharp intellect):

10. Samayasundra

It was from Lāhore that Akbar started on his second expedition to Kāśmir, on Thursday 10th August, 1592, (Śrāvaṇa Sud. 13, S.Y. 1649, Chaitrādi), and encamped outside the City, in the garden of Rājā Śri

Rāmadāsa. A Court was held there, which was attended by prince Salim, several vassal kings, learned brāhmins and pandits. Jinacandra Sūri, with his pupils, one of whom was Samayasundara, attended the Court on invitation. There he read out to the Emperor a work composed by Samayasundara. It was “*Aṣṭalakṣī*”. Jinacandra explained to the Emperor that there was in it a short sentence consisting of three simple sanskrit words (राजानो ददते सौख्यम्) which could be interpreted in eight hundred thousands ways.⁶

11. Harṣasāra

He was a monk belonging to the Kharatara Gaccha. He had once an interview with Akbar.⁷

12. Jayasoma

Jayasoma once scored a victory at a debate conducted at the Court of Akbar.⁸ He was a member of Kharatara Gaccha and was invested with the title “Pāthaka” on the 2nd of Fāgan, S.Y. 1649. The reader will remember that on the same day Akbar had conferred the title “Yuga Pradhāna” to Jinacandra Sūri, and the title “Ācārya” to Mānasimha at Lāhore. Both there also were members of the Kharatara Gaccha.

13. Sādhukīrti

In the presence of many learned men at the Court of Akbar, Sādhukīrti vanquished a proud disputant, in a debate held on the subject of a Jaina religious ceremony, called “Pauṣadha”. Akbar, thereupon, conferred on him the title “Vādīndra”.⁹

A perusal of the foregoing pages will make it evident to the reader that many Jaina teachers both of Tapā and of Kharatara Groups, attended constantly the Court of Akbar. Chief among them, -persons who vastly influenced the mental and spiritual outlook of Akbar were Hiravijaya Sūri, Vijayasena Sūri and Bhānucandra Upādhyāya. All the three were members of the Tapā Gaccha. From S.Y. 1639 onwards some Jaina teachers or others stayed at his Court. Hiravijaya Sūri explained to him all the principal tenets of Jainism, and he always inspired the highest respect from him. Since then, the Jainas exercised far greater influence upon his habits and mode of life than did the Jesuits. The tax levied on the pilgrims to the Śatrunjaya Hill was abolished; all the Jaina holy places were placed under the control of the Jainas themselves. It was at the bidding of his Jaina teachers that Akbar gave up flesh-eating and prohibited the killing or

encaging of birds and animals. (Vide p. 406, “*A Short History of Muslim Rule in India*”, 1st Ed., pp. 406-7, by Prof. Ishvarprasad).

Pinheiro, a Portuguese priest, stated in a letter from Lāhore dated 3rd December 1595, “He (Akbar) follows the sect of the Vertei (Sk. *Vratīs-Jainas*).”

Mr. Vincent Smith rightly states:- “Akbar never came under Buddhist influence in any degree whatsoever. No Buddhist took part in the debates on religion held at Fatehpūr Sikrī, and Abul Fazl never met any learned Buddhist. Consequently, his knowledge of Buddhism was extremely slight. Certain persons who took part in the debates and who have been supposed erroneously to have been Buddhists, were really Jains from Gujarāt. Many Jains visited the Imperial Court or resided there at various times during at least twenty years from 1578 to 1597 A.D. and enjoyed ample facilities for access to the Emperor (“*Jain Teachers of Akbar*”, Bhandārkar Com. Vol. p. 275).

“The potency of the influence exercised by Jaina teachers on the ideas and policy of Akbar has not been recognised by historians. No reader of the works of Elphinstone, Von Noer or Malleon would suspect that he listened to the sermons of the Jain holy men so attentively that he is reckoned by Jain writers among the converts to their religion, or that many of his acts from 1582 A.D. onwards were the direct outcome of his partial acceptance of the Jain gospel. Even Blochman failed to perceive that three of the most learned men of the time, enumerated in Abul Fazl’s long list, were eminent Jain gurus or religious teachers, namely Hīravijaya Sūri, Vijayasena Sūri, and Bhānucandra Upādhyāya. The first of them the most distinguished of the three, and credited by Jain authors with the honour of having converted Akbar (to Jainism), is placed by Abul-Fazl along with twenty others, including Saikh Mubaraka in the first of the five classes of the learned-among the select few who “understand the mystery of both the worlds.” The other two also were the most influential persons who initiated the Emperor into the significance of Jain doctrines.

“Akbar’s action in abstaining almost wholly from eating meat and in issuing stringent prohibitions resembling those of Aśoka, restricting to the narrowest possible limits the destructions of animal life, certainly was taken in obedience to the doctrine of his Jain teachers.”

“The Emperor granted various favours to the Jain community. Abul Fazl made use of his opportunities (of coming into close contact with Jain

priests) to compile an excellent and generally accurate account of the Śvetāmbara sect, by gleaning information from the various learned men of that community, especially from Hīravijaya Sūri.¹⁰ He failed to come across any learned member of the Digambara sect, and, consequently observed that his account of the Digambara peculiarities had been written as it were in the dark.”¹¹ (Vide “Akbar, the Great Mogul”; vide also the article “Jain Teachers of Akbar” in Bhandarkar Com. Vol. pp. 275 & 276, by V. Smith.)

For detailed incidents of Akbar’s life under the influence of Jain Priests, the readers are invited to refer to my introduction to a Sanskrit work “Bhānucandra Gaṇi Carita” edited by me to be shortly published as No. 15 of Singhi Jaina Granthamālā.¹²

References :

1. Abul Fazl says : - “With the magnanimity which becomes him and with his wonted zeal, he continues his search for superior men, and finds a reward in the care with which he selects such as are fit for his society.” (Aine Akbari, Vol. I. p. 154 Ain. 72. The manner in which his Majesty occupies his time.
2. “Samanis” and “Samanas” are the corrupt Prākṛit forms of the Sanskrit term “Śramaṇa”. Now, the term “Śramaṇa” is applicable to Jainas, as well as to Buddhist monks; but as no Buddhist monk ever visited the Court of Akbar, Badaoni must have used the terms to mean Jain monks only.
3. In one of the inscriptions (No. 118) Epi Indica Vol. II, Ch. 6) Buhler misread साफ for साधु and then stated that Hīravijaya belonged to the Sāfa race. This wrong statement was quoted by V. Smith in his article, “The Jain Teachers of Akbar” Bhand. Com. Vol. p. 273. This mistake should, however, be corrected. Hīravijaya Sūri was an Osvāl Baniā before he became a Jain Sādhu.
4. Vide verses 273 and 274 of the 14th of the Chapter of “Hira-Saubhāgya Mahākāvya”-
श्रीमत्यपर्युषणादिना रविमिताः सर्वे रवेर्वासराः
सोफीयानदिना अपीददिवसाः संक्रान्तिघन्नाः पुनः।
मासः स्वीयजने दिनाश्च मिहिरस्यान्येऽपि भूमिन्दुनाः
हिन्दुम्लेच्छमहीषु तेन विहिताः कारुण्यपण्यापणाः ॥ 213 ॥
तेन नवरोजदिवसास्तनुजजनू रजबमासदिवसाश्च।
विहिता अमारिसहिताः सलतास्तरवो घनेनेव ॥ 214 ॥

5. It is stated in Nāgauriya Tapā Gaccha Pattavali : - “Padma-Sundara” belonged to that Gaccha. He had very friendly relations with Akbar gave him many presents including a palanquin. He also got a religious halting place erected for him at Āgrā. Read also f.n. 488 in my Gujarāti Work “A Short History of Jaina literature”, and an article in a Jaina Hindi monthly “Anekānta” issue of November, 1941, on some of his works.

6. Vide Samayasundara’s own version in the same book : -

‘संवत् १६४९ प्रमिते श्रावण शुक्ल १३ दिने संध्याया कश्मीर देश विजय मुद्दिश्व श्रीराजश्रीरामदास-वाटिकायां कृतप्रथमप्रयाणेन श्री अकब्बर पातशाहिना जलालदीनेन अभिजातसाहिजातश्रीलिमसुरत्ताणसामन्तमण्डलकिराजराजिविराजितसभायां अनेकवैयावकरण-तार्किक-विद्वत्तमभट्टसमक्षं अस्मद् गुरुवरान् (युगप्रधान) खरतर-भट्टारकश्रीजिनचन्द्रसूरीश्वरान् आचार्यश्रीजिनसिंहसूरिप्रमुखकृतमुखसुमुखशिष्यावात-परिकरन् असमानसन्मानबहुदानपूर्वं समाहूयायमष्टलक्षार्थी ग्रन्थो मत्पाश्वाद् वाचयां चक्रेऽवक्रेण चेतस। ततस्तदर्थश्रावण-समुत्पन्नप्रभूतनूतनप्रमोदातिरेकेण संजातचित्तचमत्कारेण बहुप्रकारेण श्रीसाहिना बहुप्रशंसापूर्वं ‘पठतां पाठयतां सर्वत्र विस्तार्यतां सिद्धिरस्तु’ इत्युक्त्व च स्वहस्तेन गृहीत्वा एतत् पुस्तकं मम हस्ते दत्त्वा प्रमाणीकृतोऽयं ग्रन्थः। अतः सोपयोगित्वात् श्रीसाहिनापि समुद्दिष्ट्यार्थमाह- राजा श्री अकब्बरः नोऽस्मभ्यं सौख्यं ददते प्रजानामिति ॥

For Samayasundra see my Gujarāti essay on him read at Bhāvnagar Gujarāti Sāhitya Parishad published in Jaina Sāhitya Samsodhaka Vol. II, Nos. 3 and 4, p. 21, and see also Ānanda-Kāvya-Mahodadhi, Vol. VIII; and further vide my ‘Short History of Jaina Literature’, paras 847 and 864.

The above work ‘Aṣṭa-lakṣī’ alias Anekārtha-ratna-Manjuṣā is printed and published as Vol. No. 81 in Seth Devichand L. Jaina Pustakodhāra Fund Series.

7. Vide a verse in the colophon of “Sangrahaṇi Bālāvabodha” by his pupil Śivanīdhāna a copy of which is in Bikaner Bṛhat Jnāna Bhandāra : -

श्रीमदकब्बरसाहेर्मिलनाद्विस्तीर्णवर्णकीर्तिभरः।

वाक्पतिवद्गुरुरिह सक्रियमुख्यो हर्षसारगणी ॥

8. Vide verses in the colophon of Khanda-praśasti Kāvya Vṛtti, composed in S.Y. 1641, by his pupil, Guṇavinaya (No. 1182, Catalogue of Sanskrit and Prakṛt Manuscripts, R.A. Society, by Prof. Velenkar) Guṇavinaya says at the end of his commentary on Jayasoma’s “Karmacandra Vamsa Prabandha” composed in S.Y. 1656--

“श्री जयसोमगुरूणां शाहि-सभा-लब्धविजयकमलानाम्”

For further particulars about Jayasoma, vide my “Short History of Jaina Literature, paras 844, 863, 865, 896.”

९. शाहाकब्बरपादशाहपरिषन्मध्ये विदां साक्षिकं
कृत्वा वादमखर्वगर्वचरितं निर्जित्य दुर्वादिनं
आविष्कृत्य च नित्यपौषधविधानेत्यक्षरं ह्यागमे
'वादीन्द्र' बिरुदं नृपादचिराल्लेभे समं कोविदैः ॥

17th Verse of the colophon of धातुरत्नाकार-धातुपाठवृत्ति alias क्रियाकल्पलता composed in S.Y. 1680 by Sādhukīrtis pupil Sādhusundara (Pet. 5th report 156-160).

10. Rather from Bhānucandra Upādhyāya.
11. Ain, Akbari, Tr. Jarrett, Vol. III, p. 270.
12. This article is a part of its Introduction.

Dignity of man in Jainism

by Dr B.R. Dugar

The central themes of Jain Philosophy are non-violence, non-absolutism and non-possession. Nonviolence being the core - principle, all other virtues emerged out of it and strengthens autonomy of life of every being. Non-absolutism strengthens the thought of every being and non-possession strengthens the interdependence of all existence.

If you feel that every soul is autonomous, you will never trample on its right to live. If you feel that every person is a thinking person, you will not trample on her or his thoughts. If you feel that you owe nothing and no one, you will not trample and exploit the planet or your neighbour. These are the values that can care the dignity of a man and can save humanity as well from deadly acts of war, economic exploitation and environmental destruction.

A significant contribution of Jain philosophy is that it recognises the dignity of all living beings and not of human dignity alone. Non-duality of the self and the other living beings has been explained in the Ācārāṅga Sūtra (5.100)

You are indeed he whom, you intend to hurt.
You are indeed he who, you intend to govern.
You are indeed he who, you intend to torture.
You are indeed he who, you intend to enslave.
You are indeed he who, you intend to kill.

It is also mentioned in Dasaveāliyaṃ Sūtra (4.9) that he who treats living being as self and view-them with equanimity...escapes from the bondage of evil deeds.

Jainas also announced that all souls are similar, i.e. the faculty of accomplishing highest self-evolution equally lies innate in all the souls (every soul is potentially divine). This principle here has clarified the position that “soul is supreme soul” i.e. there is no separate entity like creator. But the very soul when it accomplishes the highest evolution by disciplined conduct, activates the supreme status. The power of manifestation of self into absolute is in the man itself. Because of this excellence of man as proclaimed in Jain religion, God having all worldly power becomes quite unimportant. It is needless to mention that to achieve the absolute good man has been given importance in compassion to other living beings or even to god & Goddess. To achieve the goal of human dignity Jainism advocates establishing social equality. Against the glaring practices of social discrimination Jaina forged their opposition and gave full freedom to one and all without discrimination of caste, creed, sex and colour. In this way the society as envisaged by Lord Mahāvira, was a society where social stratification was not hereditary and where complete freedom was granted to the man to change to the class of their own aptitude. As mentioned in Ācārāṅga Sūtra (2.49): “soul is neither high nor low, one should not therefore covet status”. The worldly soul (living beings) transmigrates from higher to lower pedigree and vice-versa; therefore, truly speaking, he is neither low nor high. In other words, the distinction of class is only arbitrary. It has been also said in Uttarādhayayan Sūtra (25.29-31): “One does not become a Śramaṇa by tonsure, nor a Brāhmaṇa by chanting the sacred syllable ‘om’, nor a Muni by living in the caves, nor a Tapasa by wearing clothes of grass and bark. One becomes a monk by equanimity, a Brāhmaṇa by chastity, a Muni by knowledge and a Tāpas by penance”.

In other words a man does not become great by birth, but he becomes great by his deeds. In this manner Jainism refutes casteism and class system and advocates for the dignity of man.

Jainism recognises the principle of interdependence also. It has been mentioned in Jaina scriptures that everyone and everything is interconnected as part of the living Earth. We are bound together in a web of mutuality. We need each other to survive and flourish - humans and all of nature. We are not alone and are surrounded & sustained at all moments by the miracle of evolution and the great mystery of life. Therefore, we should respect all living beings. Through respect for all life, we can begin to restore our relationship with all living beings including man and nature and free ourselves from our narrow prejudices. The

principle of 'live and let live' also symbolizes that every being should so much restrict and limit his activity that he may not come into clash with any other's life and treat all others like his soul. When this dignity of self-soul as similar to other souls springs forth, then that man becomes vigilant to his responsibilities and turns affectionate and tender hearted to all the beings. Dr. L.M. Singhvi, Former High-Commissioner of India in U.K. says (in Jain Declaration on Nature): "the concept of universal interdependence underpins the Jain doctrine of knowledge, known as Anekantavada or the doctrine of manifold aspects. This doctrine trains mind to give due respect to the feelings and ways of life of other persons and communities. It makes one tolerant towards others' point of view thereby promoting interpersonal relation as well as dignity of an individual". "Jain cosmology recognizes the fundamental natural phenomenon of symbiosis or mutual dependence. The ancient Jain scriptural aphorism Parasparopgraho Jivānām (all life is bound together by mutual support and interdependence) is refreshingly contemporary in its premise and perspective. Life is viewed as a gift of togetherness, accommodation and assistance in a universe timing with interdependent constituents." Therefore everyone should be respected.

To maintain the dignity of man, Jainism applied non-violence in a positive way, that is, in the direction of increasing the welfare of human being as well as other living beings. Jainism always appealed to the people to bear good intentions about the property of others, to show active interest in the welfare of the needy persons, and to take steps to ameliorate the miserable condition of afflicted living beings including insects, birds, animals and human beings. This approach to lessen the miseries of men includes vrata i.e. vow of *aparigraha*. *Aparigraha* involves avoiding the fault of *parigraha* which consists in desiring more than what is needed by an individual. Accumulating even necessary articles in large numbers, expressing wonder at the prosperity of others, excessive greed and changing the proportion of existing possessions are all forms of *parigraha*. The vow of *Aparigraha* is very noteworthy as it indirectly aims at economic equalization and eradication of poverty by peacefully preventing undue accumulation of wealth in individual hands.

It has been also said by Acharya Bhikshu (Aṅkampā 7.10-27) - man should not be means to acquiring wealth or other things. His dignity should be maintained. On utilitarian grounds a person should not be grouped as rich or poor and minority or majority because of his force and independent existence. Ācārāṅga Sūtra says (2.49): "frequently a soul is

born with high, frequently with low - status. So it is neither high nor low. One should not, therefore, covet status". "Knowing this truth about status, who would speak of his status, who would be proud of it and who would remain attached to a particular thing or object?" Acharya Mahaprajna says (Ācārāṅga Bhāṣyam Sūtra 49): "knowing that he himself as well as others have passed through high and low pedigrees, why should one uphold the position of pride? What should one covet for? This doctrine of pedigree relates to the caste, power beauty, acquisition and fortune. The doctrine of pride originates from the imaginary views of ones personal qualifications and merits. One has already experienced all this in the past. Why should, therefore, one feel elated on getting to a high position or feel depressed when relegated a low status?" Such type of living and thinking pattern can get rid of the problem of dignity.

Bibliography :

1. Ācārāṅga Bhāṣyam- Forwarded by Ganadhipati Tulsī, Commentator Ācārya Mahāprajña, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 2001
2. Dasaveāliyam, - Vacana Pramukha, Ācārya Tulsī, Editor and Commentator Muni Nathmal, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 2nd edition, 1974
3. Uttarādhyayaṇ, Vacana Pramukha, Ācārya Tulsī, Editor and Commentator Muni Nathmal, Jain Vishva Bharati, Ladnun
4. Jain Declaration on Nature, Dr. L.M. Singhvi
5. Bhikshu Vicar Darshan, Ācārya Mahāprajña, Jain Vishva Bharati, Ladnun,
6. Jainism: An Indian Religion of Salvation, Helmuthvors Glasenapp, Motilal Banarsidass, Delhi, 199
7. Jain Vidya Aur Vigyan, Prof. M.R. Gelra, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 2005
8. Threshold 2000: Critical Issues and spiritual values for a Global Age, Gerald O. Barxey, Conexus Press, 2000

Head, Dept. of Non-violence and Peace
Jain Vishva Bharati Institute
(Deemed University)
Ladnun - 341 306 (Rajasthan)

अहिंसक जनतंत्र की कल्पना

- ◆ व्यक्ति स्वातंत्र्य का विकास
- ◆ मानवीय एकता का समर्थन
- ◆ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व
- ◆ शोषणमुक्त व नैतिक समाज की रचना
- ◆ अन्तरराष्ट्रीय नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना
- ◆ सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण के सामूहिक प्रयत्न
- ◆ मैत्री व शान्ति संगठनों की सार्वदेशिक एकसूत्रता

- अनुशास्ता आचार्य तुलसी